संत ज्ञानेश्वर

[झाँकी]

प्रस्तावना

डॉ. शं. गो. तुळपुळे

एम. ए., पी-एच. डी.

लेखक

जगमोहनलाल चतुर्वेदी

संवत् २०१८] मूल्य ३ रुपये [ई. स. १९६१

प्रकाशक

श्री बळवन्त गिरिराव घाटे,
अध्यक्ष, श्री एकनाथ संशोधन मंदिर,
खडकेश्वर, औरंगाबाद

नारी पुरुष दोघे एक रूपें दिसती।
देखणे पारुखे तया ठायीं ॥
ज्ञानदेव म्हणे शिव तेचि शक्ती।
पाहातां व्यक्तींव्यक्त नाहीं ॥

—ज्ञानेश्वर

मुद्रक

कर्मशियल प्रिंटिंग प्रेस
८३१, बेगमबाज़ार.
हैदराबाद

स्व. डॉ. रा. द. रानडे-एम. ए , डी. लिट.

[पूजनीया सीताबाई रानडे की दया से]

समर्पण

जिनकी पद-रज से अहिल्या बनी दिव्य नारी ।
उनकी पद-रज में लोटता यह अनारी ।।

वै. गुरुवर्य डा. रा. द. रानडे

के

दिव्य चरणों में सप्रेम और सादर समर्पण

पद-रज सेवक
जगमोहन

मंगल दीप

दुस्साहस मैंने किया इस पाँखुरी की भेंट का,
उसके लिए—जो है अलौकिक ज्ञान तरु की वाटिका।
आज तेरी वाटिका के फूल की एक पाँखुरी,
उद्यत हुआ हूँ भेंट करने को तुझे मैं हे हरी।
अथवा दिखाऊँ दीप उसको तेज का आगर है जो,
जल चढ़ाऊँ अंबुनिधि को भाव का सागर है जो।
यह कार्य मैंने जो किया उसके लिए हूँ प्रार्थी,
मेरी अविद्या-बुद्धि ने मुझको किया था स्वार्थी।
अब नाथ अंगीकार होवे दास की यह आरती,
कलि कलमषों का नाश हो गूँजे हृदय में भारती।

प्रस्तावना

महाराष्ट्र के श्रेष्ठ संत श्री ज्ञानदेव के चरित्र और तत्त्वज्ञान के विषय में यह प्रथम हिन्दी ग्रंथ प्रकाशित हो रहा ह। मराठी संतों की जीवनियाँ और कार्य के संबंध में डा० कोलतेजी ने एक छोटा-सा ग्रंथ कई वर्ष पहले लिखा था, लेकिन उस ग्रंथ में श्री ज्ञानदेव का जीवन और उनका चरित्र विस्तृत रूप से नहीं आ सका। श्री जगमोहन लाल जी चतुर्वेदी ने श्री ज्ञानदेव विषयक सभी प्रसंगों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया है जिसके लिए उनका अभिनंदन करना उचित है।

श्री चतुर्वेदी जी के ग्रंथ के मुख्य रूप से तीन भाग हैं। पहले भाग मे श्री ज्ञानदेव के चरित्र का वर्णन है, जिसमें श्री नामदेव आदि संतों के साहित्य के आधार पर श्री ज्ञानदेव-चरित्र की कई समस्याओं का विचार किया गया है। दूसरे भाग में 'कवि' के रूप में श्री ज्ञानदेव की महत्ता का सोदाहरण विवेचन है। तीसरे और अंतिम भाग में 'तत्त्वज्ञ' की दृष्टि से श्री ज्ञानदेव के साहित्य की आलोचना की गयी है।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि श्री चतुर्वेदी जी का विवरण साधार एवं पुष्ट है। जगह-जगह पर उन्होंने अपने सिद्धांत को पुष्ट करने के लिए उदाहरणों की बहुलता प्रस्तुत की है जिससे यह प्रतीत होता है कि श्री चतुर्वेदी जी ने

श्री ज्ञानदेव के साहित्य का कितना गहरा अध्ययन किया है। श्री ज्ञानदेव के जो चरित्र ग्रंथ आज तक मराठी भाषा में लिखे गये हैं उनका श्री चतुर्वेदी जी ने पूर्ण अध्ययन किया है जिसके फलस्वरूप यह ग्रंथ हिन्दी भाषा में इस विषय का उपयोगी ग्रंथ हो गया है।

इस ग्रंथ में श्री चतुर्वेदी जी ने जो विवेचन किया है उसके अन्तर्गत कुछ बातों में सुधार की आवश्यकता है यद्यपि उनकी संख्या बहुत न्यून है। उनमें से कुछ प्रमुख बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है :

पृष्ठ ३ पर श्री चतुर्वेदी जी ने 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ के लेखक का नाम शारंगधर और उसके पिता का नाम सोंधल लिखा है। लेकिन आज के संशोधकों ने यह सिद्ध किया है कि उस ग्रंथ के लेखक 'शांङर्गदेव' थे और उनके पिता का नाम 'सोढलदेव' था।

पृष्ठ १०८ पर श्री चतुर्वेदी जी का अभिप्राय व्यक्त हुआ है कि 'ज्ञानदेव के तत्त्वज्ञान और अलंकारों का प्रभाव भगिनी भाषाओं के संत कवियों पर हुआ है। संत कबीर ने भी ज्ञानदेव के कई अलंकारों, दृष्टांतों और रूपकों को अपनाया है। यह बात सच है कि ज्ञानदेव और कबीर आदि संत कवियों के काव्यों में कतिपय समान स्थल नज़र आते है। गुरुदेव रानडे जी ने अपने 'Path way to God in Hindi literature' नामक ग्रंथ में यह सिद्ध किया है। लेकिन यह प्रभाव श्री ज्ञानदेव

के वाङमय का नहीं माना जा सकेगा। भारतीय संस्कृति की और तत्त्वज्ञान की एकता ही इसके लिए प्रेरक हुई थी।

पृष्ठ १३१-१३२ पर श्री चतुर्वेदी जी ने श्री ज्ञानदेव और कबीर के चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पर जो विचार व्यक्त किये हैं और उनमें परस्पर भिन्नता की जो मीमांसा की है इसके बारे में मतभेद हो सकता है। श्री ज्ञानदेव ने वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में और वेदों के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट की है जब कि कबीर ने वेदों के प्रति तीखी बातें लिखी हैं। इस भिन्नता का कारण यह नहीं कि श्री ज्ञानदेव का जन्म एक वैदिक सनातनी ब्राह्मण कुल में हुआ था और कबीर एक ऐसी जाति में पैदा हुए जिसकी सामाजिक मर्यादा निचले स्तर की थी, और जो धीरे-धीरे मुसलमान भी होने लगी थी। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हिन्दू-धर्म का आधार है और वह इतना दृढ़ है कि कितना भी श्रेष्ठ संत हो या नेता हो वह इस अभेद्य जाति व्यवस्था पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सका। जिस तरह के विचार कबीर ने व्यक्त किये हैं वैसे विचार समाज सहन नहीं करता और उनका परिणाम यह होता है कि वह सत अपना समाज सुधार का कार्य कर नहीं पाता। श्री ज्ञानदेव ने अपने समाज की यह धारणा पूरी तरह जान ली थी। परि-स्थिति की मर्यादा सम्हाल कर हिन्दू-समाज व्यवस्था को वैसा ही रख कर श्री ज्ञानदेव ने अपना कार्य किया जिससे वे सारे समाज के लिए वंद्य हो गये।

श्री चतुर्वेदी जी ने श्री ज्ञानदेव के—विशेष कर महाराष्ट्र मे किये गये—कार्य की ओर कुछ निर्देश अवश्य किया है किन्तु

वह बहुत संक्षेप में हुआ है। आज की महाराष्ट्र-संस्कृति के जनक श्री ज्ञानदेव ही हैं। वे एक धर्मयुग के महान् प्रवर्तक हैं और उनके जीवन कार्य से ही महाराष्ट्र 'महा-राष्ट्र' हो गया। इस अलौकिक बात की ओर श्री चतुर्वेदी जी अधिक बल देते तो अच्छा होता। महाराष्ट्र के धर्म-जीवन में श्री ज्ञानदेव के चरित्र और काव्य से एक नया परिवर्तन हो गया, इसका विवेचन विस्तार से होना अवश्य था।

अब तक श्री चतुर्वेदी जी के ग्रंथ में जो कुछ मतभेद के स्थान मालूम पड़े उनका संकेत किया गया। लेकिन ऐसी त्रुटियाँ इसमें बहुत ही कम हैं। श्री चतुर्वेदी जी का यह ग्रंथ हिन्दी भाषियों के लिए एक सन्दर्भ-ग्रंथ का स्थान पाएगा। श्री ज्ञानदेव का चरित्र, नाथ-वारकरी आदि संप्रदायों पर विचार और श्री ज्ञानदेव के तत्त्वज्ञान की आलोचना--ये चतुर्वेदी जी के ग्रंथ की सराहनीय विशेषताएँ हैं।

श्री चतुर्वेदी जी ने श्री ज्ञानदेव के तत्त्वज्ञान का विवेचन करते समय कबीर, मीरा, तुलसी आदि वंदनीय कवि-श्रेष्ठों के जो समानार्थक विचार साथ-साथ उद्धृत किये हैं उससे ग्रंथ का महत्त्व विशेष रूप से बढ़ गया है। भारतीय साहित्य में भाषा-भगिनियों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होते हुए भी अब तक ऐसे प्रयत्न बहुत कम हुए हैं। सब भारतीय भाषाओं का बाहरी स्वरूप भले ही भिन्न प्रकार का हो उनका अंतरंग एक ही है यह सिद्धांत हमे स्वीकार करना होगा। इस विधान की पुष्टि के लिए चतुर्वेदी जी ने

जिस प्रकार अध्ययन किया है उसी प्रकार का तुलनात्मक अभ्यास होना चाहिए। मराठी संत श्री ज्ञानदेव के विचारों का और तुलसी, कबीर, मीरा आदि हिन्दी कवियों के विचारों का आशय बिलकुल एक ही है, यह श्री चतुर्वेदी जी ने अपने अभ्यासपूर्ण विवेचन से स्पष्ट किया है। इसके लिए उनको धन्यवाद देना उचित है। भक्ति साहित्य के अध्येताओं के लिए यह एक उपयोगी ग्रंथ है।

पुणे विद्यापीठ,
पुणें–७
ता. २८-६-६१

(डॉ) शं. गो. तुळपुळे
अध्यक्ष मराठी विभाग

अन्तर्दर्शन

'संत ज्ञानेश्वर' इस रूप में, हिन्दी साहित्य के भांडार के लिए प्रथम रत्न है। इस ग्रंथ में अनुभवी लेखक ने संत ज्ञानेश्वर के जीवन काल तथा साधना से सम्बद्ध प्रायः सम्पूर्ण सामग्री बड़ी योग्यता से व्यवस्थापित की है। वैसे तो ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति और विस्तृत थी; पर परिस्थितियो के आग्रह के कारण इसके कलेवर को सँवारने के समय सामासिक शैली का प्रयोग कर लिया गया।

इस ग्रंथ के चौदह उप-खण्ड है—(१) ज्ञानेश्वर कालीन महाराष्ट्र, (२) ज्ञानेश्वर का आविर्भाव (३) जीवन चर्या (४) ग्रंथ-रचना (५) गुरु संप्रदाय (६) समाधि (७) प्रगाढ़ अध्ययन (८) ज्ञानदेव की विशेषताएँ (९) श्री ज्ञानेश्वर का भारत को योगदान (१०) सामाजिक क्रांति और ज्ञानेश्वर (११) तत्त्वज्ञान (१२) ज्ञानेश्वर और शंकराचार्य (१३) साक्षात्कार का साधन तथा (१४) मन्त्रयोग-नाम महिमा।

लगभग दो सौ पृष्ठों के इस ग्रंथ में कृती-लेखक ने पचास से भी अधिक सहायक सूत्रों का उपयोग करके संत ज्ञानेश्वर के महत्त्व को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्र के सर्वांगीण वातावरण का चित्र अंकित करने के लिए इस ग्रंथ के प्रथम उपखण्ड में ज्ञानेश्वरकालीन राजनीतिक परिस्थितियो, सामाजिक अवस्थाओ, सांस्कृतिक उपलब्धियों, धार्मिक वायुमण्डलों तथा युगीन साहित्यिक विशेषताओं की पृष्ठभूमियों का बड़ी कुशलता से उपयोग किया गया है।

आज से सात सौ वर्ष पहले जिस महाराष्ट्र परिवार में ज्ञानदेव का आविर्भाव जिन-जिन परिस्थितियों में हुआ, उनका उल्लेख ग्रंथ के द्वितीय उपखण्ड में किया गया है।

संत ज्ञानेश्वर की क्रांतिकारिणी, योगस्थ जीवन चर्या का बड़ा ही मार्मिक और भव्यवर्णन ग्रंथ के तृतीय उपखण्ड में मिलता है। पंढरी नाथ के प्रति भक्ति के जिस भाव की सिद्धि ज्ञानेश्वर को प्राप्त हुई थी, उसका बडा प्रभावशाली वर्णन लेखक ने इस खड में किया है।

'ज्ञानेवरी', 'अभंग', 'हरिपाठ', 'चांगदेव पासष्ठी' तथा 'अमृतानुभव' की रचना तथा इन कृतियों का सक्षिप्त परिचय ग्रथ के चतुर्थ उपखण्ड में दिया गया है।

'सत ज्ञानेश्वर के' पाँचवे उपखण्ड मे उनकी गुरु परम्परा का वर्णन करते हुए उन पर गोरख नाथ का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है तथा ज्ञानेश्वर के मुख्य गुरु के रूप मे उनके पिता तथा भगवान् श्रीकृष्ण विट्ठल को ही प्रस्तुत किया गया है।

संत ज्ञानेश्वर की समाधि का दृश्य प्रस्तुत करने वाला छठवाँ उपखण्ड बड़ा मार्मिक, प्रभावशाली तथा हृदयद्रावक है।

ग्रथ के सातवें उपखण्ड में संत ज्ञानेश्वर के प्रगाढ़ अध्ययन की चर्चा करते हुए यह सिद्ध किया है कि ये संत बहुश्रुत थे तथा उन्होंने वेद, स्मृति, अन्य शास्त्र, शकराचार्य के सब ग्रथ, महाभारत, भागवत, योग वासिष्ठ, योग शास्त्र तथा रामायण और शिवसूत्र का अनुशीलन किया था।

ग्रथ का आठवाँ उपखण्ड संत ज्ञानदेव की विशेषताएँ प्रस्तुत करता है। इसमें संत की पूर्ण सुदृढ़ मानसिक स्थिति, अलौकिक काव्य प्रतिभा, अपनी सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास, समत्व मय शील तथा मानव के सर्वांगीण अनन्त विकास को सम्भव बनाने वाली पवित्र आकांक्षा पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

ग्रंथ के नवम उपखण्ड में संत ज्ञानेश्वर से भारत को प्राप्त होने वाले दिव्य जीवन की चर्चा करते हुए लेखक ने बताया है कि गीता के कर्मयोग को भाषा का सशक्त परिधान दे कर संत ने उस गीता धर्म को भारतीय परिवारों तक पहुँचाया और जनता में अनासक्त कर्मयोग की अनुभूति और कर्मठता उत्पन्न की। त्रिदेवों की एकता की घोषणा

करके सामाजिक और धार्मिक जीवन में जिस समन्वय की स्थापना ब्रह्मवाद के आधार पर संत ज्ञानेश्वर ने की थी उस पर लेखक के द्वारा प्रस्तुत विचार बड़े प्रभावशाली है ।

ग्रंथ के दशम उपखण्ड में ज्ञानेश्वर के द्वारा उत्पन्न की हुई सामाजिक क्रान्ति पर अलग से चर्चा की गयी है और यह बताया गया है कि संत ज्ञानेश्वर ने मानव धर्म के आधार पर सब वर्णों को मानव समझने की अन्तर्दृष्टि समाज को दी । विश्वरूप भगवान् का सब वर्णों के मानवों में दर्शन करा देने का स्तुत्य प्रत्यत्न करके सत ज्ञानेश्वर ने जिस 'मानव वर्ण' की भावमयी स्थापना की थी उसका बड़ा सुन्दर विवेचन उस उपखण्ड में हुआ है ।

ग्रंथ का ग्यारहवाँ उपखण्ड तत्त्वज्ञान की उस भूमिका को प्रस्तुत करता है जिस पर आसीन हो कर संत ज्ञानेश्वर ने भारत को ज्ञान का प्रकाश दिया था । इस उपखंड में वैदिक परम्परा में विकसित हुए वारकरी पथ, शंकर के अद्वैत दर्शन, रामानुजाचार्य के विशिष्टा द्वैत मत, नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा अवैदिक परम्परा के जैन लिंगायत तथा महानुभाव पंथों के सिद्धान्तों का विवेचन करके संत ज्ञानेश्वर के मत के साथ इन सबका समन्वय और सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है ।

'ज्ञानेश्वर और शंकराचार्य'—इस ग्रंथ का बारहवाँ उपखंड है । इसमें ज्ञानेश्वर तथा आचार्य शंकर के अद्वैत दर्शन का विवेचन करते हुए अद्वैती भक्ति के 'ज्ञानेश्वर दर्शन' का पुरस्करण बड़ी योग्यता से किया गया है । अद्वैती भक्ति के कर्मयोग को इस उपखण्ड में शंकर के कर्म संन्यास से अधिक श्रेयस्कर बताया गया है; पर इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार अनेक लेखकों ने प्रस्तुत किये हैं । उनमें से एक पक्ष का प्रतिपादन स्वतन्त्र और मौलिक ढंग से इस उपखण्ड में हुआ है ।

'साक्षात्कार का साधन'—इस ग्रंथ का तेरहवाँ उपखण्ड है । इसमें भक्तियोग को ईश्वर साक्षात्कार का साधन सिद्ध किया गया है । निर्गुण और सगुण की समानता के आधार पर विश्वरूप भगवान् की भक्ति

का विवेचन इस उपखण्ड में बडी योग्यता से हुआ है। अनन्य प्रेम को इस भक्ति का लक्षण माना गया है और अत्यन्त पतित के लिए भी प्रेमात्मिका भक्ति से प्राप्त मुक्ति की आशा प्रदान की गयी है। सत्संग, संत और भक्त के लक्षण तथा नर की नारायण रूप में परिणति पर बड़े मार्मिक विचार तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये है।

'मन्त्रयोग और नाम महिमा' के अन्तिम चौदहवें उपखण्ड में कर्म योग, ध्यानयोग पंथराज तथा ज्ञानयोग की अपेक्षा भक्ति योग को ही ज्ञानदेव ने साधारण मनुष्य के लिए श्रेयस्कर माना था। इस पक्ष का बड़ा सुन्दर विवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

'नाम महिमा' मे मंत्रराज 'विट्ठल' को ज्ञानदेव ने प्रथम स्थान दिया था, क्योंकि कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के जीवन को उन्होंने अपना आदर्श बनाया था। इम प्रकरण में ज्ञानेश्वर, कबीर, एकनाथ के भागवत, तुकाराम के अभंगो तथा अन्य ग्रथो के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि अनन्त आदर्शों के अधिष्ठान नाम के स्मरण से ही मनुष्य के भीतर अनन्त आदर्शों का प्रकाश आलोकित हो सकता है।

चौदह प्रकरणों में सम्पूर्ण होने वाला यह ग्रंथ व्यक्ति और समाज के सम्यक् विकास के पथ को बड़ी योग्यता से प्रस्तुत करता है। विश्व संघर्ष के इस युग में, जबकि मानव मानव के बीच की खाई विस्तृत होती जा रही है, जब भाषा-भाषा, प्रान्त-प्रान्त और देश-देश के बीच सन्देह का काला पर्दा घना होता चला जा रहा है, संतों के जीवन का यह अनुशीलन बहुत मंगलप्रद होगा। लेखक के प्रति इस धन्य और सफल प्रयास के लिए मैं अपना सामाजिक आभार व्यक्त करता हूँ तथा 'अन्तर्दर्शन' लिखने की यह सेवा का अवसर प्राप्त करके मैं अपने को भी भाग्यशाली समझता हूँ।

मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी
बुधवार, सम्वत २०१८

डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

निवेदन

तैसें हारपलें आपण पें पावें।
तें संतांतें पाहतां गिवसावें।
म्हणोनि वानावे। तेचि सदा॥

[ज्ञा० १८।४००]

परमपुनीतं संतचरित्रम्।
निशिदिनगेयं श्रोतव्यम्॥

प्रस्तुत पुस्तक का लेखक न तो भाषा विशारद ही है और न गहनतम दार्शनिक तत्त्वों और काव्यालंकारों के समझने का पात्र। इस पर भी उसकी यह ढिठाई कि वह ज्ञानवाटिका के फूल चुन कर न तो माला के रूप में पिरोता है और न फूल के ही रूप में सुशोभित गुलदस्ता बना कर भेंट करता है वरन् फूल को तोड़ कर उसकी पंखुड़ियाँ भेंट कर, यह समझता है कि वह सत्कार्य करने में समर्थ हुआ है। अतः मेरा यह साहस उसी प्रकार उपहासजनक है जिस प्रकार 'लूट के द्रव्य से सदावर्त बाँटना' किंवा मेरा यह व्यवहार उस प्रमदा के समान उपहास-जनक है 'जो माँगे के अलंकारों से अपने को अलंकृत कर इतराती हुई चलती है।' फिर भी साहस इसलिए होता है कि ज्ञानेश्वर का हृदय इतना कोमल और विशाल है कि उसमें एक अकिंचन के लिए भी स्थान है। उन्हीं के शब्दों में 'पृथ्वी पर राजहंस सुन्दर गति से चला करते है; परन्तु क्या इसीलिए और कोई अपनी भद्दी चाल से उस पर चलने ही न पाए ?'—इससे मुझे ढाढ़स बँधता है कि संत-शिरोमणि ज्ञानेश्वर मेरे दूर्वा-दलों को अस्वीकार न करेंगे।

इस पुस्तक के लिखने का संकल्प मैंने उस समय किया था जब मुझे ह. भ. प. शं. वा. दांडेकर का दर्शन-लाभ पूना में हुआ और उन्होंने प्रसाद-रूप में अपना ग्रंथ 'श्री ज्ञानदेव चरित्र, ग्रंथ व तत्त्वज्ञान' मुझे दिया। इस प्रसाद को मिले हुए लगभग आठ वर्ष हुए (४ नवम्बर, १९५३)। मेरी जिज्ञासा दिन-दिन बढ़ती गयी और मैंने गुरुवर्य की नव प्रकाशित सार्थ ज्ञानेश्वरी का दर्शन किया तथा ज्ञानेश्वर सम्बन्धी इतर ग्रंथों का भी अनुशीलन किया। मैंने अपने गुरुवर्य डॉ. रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकर के आशीर्वाद और कृपा से ग्रंथ तैयार भी कर लिया।

'श्री गुरु कृपा काय नोहे। ज्ञानदेव म्हणे।'

साहस न हुआ कि इस ग्रंथ को प्रेस में भेजूं। पुस्तक का परीक्षण, संशोधन और संक्षिप्तीकरण शेष था। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा दी हुई तीर्थ-स्थान की परिभाषा के अनुसार मैंने अपने तीर्थों की यात्रा आरम्भ कर दी। मेरे लिए डॉ. रानडे का निंबाळाश्रम और ह. भ. प. दांडेकर का निवास स्थान बड़े तीर्थ थे। डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय, डा. श्रीधर कुळकर्णी और डा. भालचन्द्र तैलंग के निवास स्थान कुछ सुलभ तीर्थ थे जिनका मैं 'वारकरी' बन गया। मैंने अपना तैयार किया हुआ ग्रथ परिशोधन के लिए उन्हें बार-बार दिखाया और उनके मार्ग दर्शन से पूर्ण लाभ उठाया। इस पर भी इस ग्रंथ में जो न्यूनता है उसका मैं ही दोषी हूँ कारण कि मार्गदर्शक तो केवल दिग्दर्शन मात्र कराता है, शेष काम तो पथिक का है।

तरी न्यून तें पुरतें। अधिकतें सरतें।
करूनि घेंयावें हें तुमतें। विनवितुसे ।।

मैंने स्वच्छन्दता पूर्वक ह. भ. प. शं. वा. दांडेकर और डॉ. रा. द. रानडे के ज्ञानेश्वर सम्बन्धी ग्रंथों का उपयोग किया है और उनकी शैली, भाषा और विषय प्रतिपादन पद्धति को पूर्णतः अपनाया है अथवा यों कहिए कि यह ग्रंथ उनके 'प्रसाद' का हिन्दी रूपान्तर ही है।

जब मैं निंबाळ तीर्थ पहुँचा तो मुझे गुरुवर्य डा. रानडे के चरणों के दर्शन का लाभ हुआ और मैंने उस समय अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि मैं 'ज्ञानेश्वर चरित्र, काव्य और दर्शन' नाम का एक लोकोपयोगी ग्रंथ लिख रहा हूँ। मैंने इस ग्रंथ के कुछ स्थल गुरुवर्य की आज्ञा मिलने पर उन्हें सुनाये भी। उनका अभिप्राय प्राप्त हुआ कि 'पुस्तक छपायी जाए'। ह. भ. प. दांडेकर ने भी मुझे एक पत्र में लिखा था, "I see no reason why it should not be published." परन्तु पुस्तक छपते-छपते रह गयी और आज वह दिन आया जब मैं अपनी पुस्तक को श्रद्धेय डा. रानडे के कमल चरणों में भेंट करने से वंचित हो गया। ईश्वर की यही इच्छा थी कि मैं अपनी पुस्तक उनके दिव्य चरणों में भेंट कर अपने को कृतकृत्य समझूं।

मैं सबसे प्रथम स्व. डॉ. रा. द. रानडे के प्रति अपनी पुष्पांजलि भेंट करता हूँ जिन्होंने निंबाळ में मेरे सिर पर वरद हस्त रखा, मुझे आशीर्वाद दिया और स्टेशन तक पहुँचाने का कष्ट किया। उनकी दिव्य एवं भव्य मूर्ति मेरे हृदय में विराजमान हो कर मुझे उनके आतिथ्य, वात्सल्य और प्रेम का स्मरण दिलाती है। उनके संत स्वभाव से अभिभूत हो आज भी मेरा हृदय गद्‌गद् हो उठता है, कंठ अवरोध होता है, आँखें डबडबा आती हैं और शरीर में रोमांच हो आता है। मेरी यह अभिलाषा जाग उठती है, **'कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।'** स्व. गुरुवर्य डॉ. रानडे के प्रति औपचारिक आभार प्रदर्शन करना धृष्टता होगी **'मौना वांचून लेणें आंगीं सुसीनामा'** अतः मूक हो कर ही मैं अपने हृदय से उनके प्रति अपनी श्रद्धा और आदर व्यक्त करता हूँ।

तीर्थ स्वरूपा परम पूजनीया माता जी श्रीमती सीताबाई रानडे के प्रति आदर और आभार व्यक्त करने के लिए मैं असमर्थ और साधनहीन हूँ। उनके अनुग्रह का ही फल है कि मैं इस कृति को स्व. गुरुवर्य डा. रानडे को समर्पण करने के योग्य बन सका।

आदरणीय ह. भ. प. शं. वा. दांडेकर का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ जिनके ग्रंथों के अमूल्य रत्नों से मैंने अपनी भद्दी भाषा का श्रृंगार किया है।

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस असमोहि अंदेशा॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनिसुहावनि टाट पटोरे॥

मैं डॉ शं गो. तुळपुळे और डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय का आभारी हूँ जिन्होने प्रस्तुत पुस्तक के लिए प्रसाद रूप में प्रस्तावना ‡ और अन्तर्दर्शन लिख कर मुझे उपकृत किया। डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय, डॉ. भालचन्द्र तैलंग और डॉ. श्रीधर कुलकर्णी के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होने पग-पग पर मार्ग प्रदर्शन किया। पुस्तक का जो स्वरूप आज दिखाई देता है, वह उनके ही स्नेह का फल है।

मैं डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का ऋणी हूँ जिन्होंने हस्तलिखित को देख कर अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे सूचित किया। मैंने यथा-संभव इन सुझावों को स्वीकार किया है।

मैं डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रा न. र. फाटक का आभारी हूँ, जिन्होंने अपने ग्रंथों की सामग्री को उपयोग में लाने की अनुमति प्रदान की। कृतघ्नता होगी यदि मैं उन ग्रंथकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट न करूँ जिनके ग्रंथों की सामग्री का किसी न किसी रूप में मैंने उपयोग किया है। इन विद्वानों में से डॉ त्रिगुणायत, डा. रामकुमार वर्मा, डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ श्यामसुन्दर दास; एकनाथ संशोधन मंडल और ज्ञानेश्वर मंडल द्वारा संपादित पुस्तको के विद्वान् लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। कबीर सम्बन्धी सामग्री अधिकांश में 'हिन्दी काव्य में निर्गुण

---

‡ डॉ. शं. गो. तुळमुळे ने हस्तलिखित को देख कर जिन त्रुटियों का उल्लेख किया था, उनका संशोधन कर लिया गया है। केवल ऐसे दो ही स्थल रह गये हैं, जहाँ विद्वानों का मतभेद है। पुस्तक के पूर्व-निश्चित पृष्ठ संख्या से बढ़ जाने के कारण काव्य-भाग को न छपवा सका।

संप्रदाय' से ली है। मैं पुस्तक के लेखक डॉ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अनुवादक श्री परशुराम चतुर्वेदी और सम्पादक डॉ. भगीरथ मिश्र का ऋणी हूँ।

मुझे ह. भ. प. धुंडा महाराज देगलूरकर व दे. ला. महाजन का स्नेह मिलता रहता है अतः उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री बलवन्तराव घाटे, अध्यक्ष श्री एकनाथ संशोधन मन्दिर औरंगाबाद का मनःपूर्वक आभार प्रदर्शन करता हूँ जिनके सत्संग से मैं पावन हो गया—'फुलाचेनि सांगातें। तांतु तुरंबिजे श्रीमंते।' श्री मुनीन्द्र जी व्यवस्थापक, कर्मशियल प्रिंटिंग प्रेस धन्यवाद के पात्र हैं। **'जिनकी कृपातें यह ग्रंथ छप पायो है।'** श्री विद्याधर, एम. ए. तथा मेरे कुछ शिष्यो का भी आभारी हूँ, जिन्होंने पांडुलिपि तैयार करने में सहयोग दिया।

मैं निःसंग रूप से श्री रवीन्द्र का ऋणी हूँ जिन्होंने हिन्दी क्षेत्र में सेवा करने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। मेरा कार्य जो पहले 'सामान्य विज्ञान' के लेखो तक ही सीमित था—उसका पर्यवसान अब सत वाङमय की ओर हुआ है। पुस्तक के मुखपृष्ठ के कलाकार श्री रा. कु. चतुर्वेदी को धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है।

स्व. बाबा रघुनाथदास के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ, जिन्होंने पाला-पोसा और मेरे हृदय में भगवद्भक्ति का बीज बोया जो गुरुवर्य डा. रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकर की कृपा-वृष्टि से अंकुरित हो बढ़ने लगा। स्व. पितृव्य बनवारीलाल चतुर्वेदी के प्रति मौन श्रद्धा व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरी शिक्षा-दीक्षा का भार उठाया। मुझे स्व. कृष्णमोहन के प्रति भी आदर व्यक्त करना है जिनके भ्रातृतुल्य संरक्षण और मार्ग दर्शन का लाभ अल्प समय के लिए मुझे प्राप्त हुआ था।

दिलसुखनगर,
हैदराबाद
२१ दिसम्बर '६१

जगमोहनलाल चतुर्वेदी
सेवा-निवृत्त प्रिंसिपल,
टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, औरंगाबाद

अनुक्रम

चरित्र

तत्त्व-ज्ञान ११६-१४८

(अ) वैदिक धर्म (११६) वारकरी पंथ (११७) श्री शंकराचार्य का अद्वैत (११९) श्री रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत (१२१) नाथपंथ (१२२)

(ब) अवैदिक धर्म—जैन धर्म (१२३) लिंगायत (१२४) महानुभाव (१२५) ज्ञानेश्वर और जैन धर्म (१२६) ज्ञानेश्वर और मानभाव पंथ (१२८) ज्ञानेश्वर और कबीर (१३१)

(स) ज्ञानेश्वर और शंकराचार्य (कबीर से तुलना) (१३३-१४८) ज्ञान योग—जग ब्रह्म से भिन्न नही (१३५) जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं (१३७) बंधन के अभाव में मोक्ष (१३९) कर्मयोग (१४०) भक्ति योग (१४२) अद्वैत में भी भक्ति संभव है (१४३) अधिकारानुरूप साधन (१४४) कर्म-योग और ज्ञान-योग समन्वय (१४५) कर्म भक्ति ज्ञान समन्वय (१४५) योग की दुरूहता (१४६) भक्ति-ज्ञान और वैराग्य का सम्बन्ध (१४६) महाराष्ट्रीय भक्ति भागीरथी (१४७)

भक्ति योग—साक्षात्कार का साधन १४९-१८४

भक्ति योग साक्षात्कार का सुलभ साधन (१४९) **सगुण रूप** (१५०) निर्गुण और सगुण की समानता (१५१) ईश्वर किसी भी दृढ भावना से प्राप्त हो सकता है (१५३) अनन्य प्रेम द्वारा भगवान् की प्राप्ति (१५५) भक्त का स्वरूप (१५६) भगवान् भक्त का उद्धार करते हैं (१५६) दुराचारी को भी आशा (१५७) व्यभिचारी भक्ति (१५७) अनन्य भक्ति (१६०) **सत्संग**—संतशब्द की व्युत्पत्ति (१६१) भागवत मे सतों के लक्षण (१६३) सत्संग मुक्ति का साधन (१६४) संत लक्षण (१६५) भक्त-महिमा (१६८) सत्संग का फल (१७०)

गुरु भक्ति (१७३) गुरु महिमा १७४) **मंत्र योग** (१७७) नाम महिमा (१७७) मंत्र राज (१७८) विट्ठल नाम (१८०) राम नाम का प्रथम स्थान (१८१) पसाय दान (१८४)

ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्र की लोक स्थिति

महाराष्ट्र के सब साधु-संत, ज्ञानियों का राजा कह कर जिनके आध्यात्मिक प्रभुत्व का गौरव करते हैं, लाखों प्रेमी वारकरी ज्ञानोबा माता के नाम से जिनका नित्य जयघोष करते हैं, प्राचीन और आधुनिक रसज्ञ पंडित जिनकी 'ज्ञानेश्वरी' को समस्त मराठी साहित्य में काव्यों का राजा मान कर शिरसावंद्य मानते है, तथा जिन्होंने 'अमृतानुभव' रूप श्रेष्ठ तत्व ज्ञान प्रकट कर एवं अभंग रूपी सगुण-भक्ति-भागीरथी बहा कर उत्तम से अंत्यज पर्यन्त सब का समान उद्धार करने के लिए भागवत धर्म-मंदिर का पाया रचा—ऐसे लोकोत्तर संत, कवि, ज्ञानी और धर्म प्रवर्तक ज्ञानेश्वर को महाराष्ट्र के धार्मिक साहित्य में लगभग सात सौ वर्षों से अग्रपूजा का मान प्राप्त हुआ है—यह निर्विवाद है।

अपने देश में पुराने साधु-संतों के इतिहास-लेखक के मार्ग में सामान्यतः एक अड़चन होती है। यहाँ के साधु-संत परमार्थ में इतने रँगे होते हैं कि वे अपने व्यावहारिक जीवन-वृतान्त के संबंध में अपने ग्रंथों में अपना परिचय अधिक नहीं देते। इसलिए उनका काल निश्चय करना अत्यंत कठिन होता है, परन्तु सुदैव से ऐसी अड़चन ज्ञानदेव के चरित्र-लेखक के मार्ग में नहीं है। ज्ञानेश्वरी के अंत में निम्नलिखित 'ओवी' है जिससे ज्ञानेश्वरी का काल निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं आती। शके १२१२ में ज्ञानेश्वर ने गीता पर टीका की जिसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा।

शके बाराशतें बारोतरें। तं टीका केली ज्ञानेश्वरें।
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखकु जाहला ॥ ‡

यह ओवी किसकी है, इस संबंध में मतभेद हो सकता है, और है भी। परन्तु इस ओवी में ज्ञानेश्वर का जो काल दिया है वह ज्ञानेश्वरी लिखने का काल है—इसमें कोई शंका नहीं। प्रस्तुत ओवी से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि ज्ञानेश्वरी ग्रंथ शके १२१२ अथवा ई. स. १२९० में लिख कर तैयार हुआ। और ज्ञानदेव का जो इतर वृतांत प्रसिद्ध है उससे भी यह बात निश्चित है कि ज्ञानेश्वर का जन्म और निधन भी तेरहवीं शती में हुआ।

राजनीतिक परिस्थिति :

ज्ञानदेव के पूर्व ही महाराष्ट्र ने एक स्वतंत्र स्थान प्राप्त कर लिया था और उसकी निजकी संस्कृति थी। ज्ञानदेव के काल में भी इस प्रदेश को स्वराज्य और सुराज्य दोनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मध्ययुगीन भारत में बदामी के चालुक्य, मालखेड़ के राष्ट्रकूट, कल्याण के चालुक्य और देवगिरि के यादव—ऐसे चार घराने दक्षिण में कालानुक्रम से वैभव को प्राप्त हुए। इन चार घरानों में से ज्ञानदेव के काल में महाराष्ट्र पर यादव वंश का शासन चालू था। यादवों का मूल स्थान मथुरा था। प्राचीन काल में इनके कई घराने गुजरात और महाराष्ट्र में आये। हेमाद्रि के व्रत खण्ड में इस घराने का वृतांत दिया है। यादवों के दो वंश प्रसिद्ध हैं। एक नासिक के आसपास चन्द्रादित्यपुर अथवा चांदवड़ में राज करता था और दूसरा देवगिरि (दौलताबाद) में। पहले यादव वंश ने ई. स. ७९५ से ११९१ तक राज्य किया। †

ज्ञानदेव ने 'ज्ञानेश्वरी' के अंत में जो उल्लेख किया है उससे पता चलता है कि उस समय देवगिरि के राजा महाराष्ट्र में राज्य करते थे।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १८।१८१०। † महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश (य)-विभाग १९, पृ. २३।

यादववंश के पराक्रमी राजा पाँचवें भिल्लम ने सोमेश्वर चालुक्य के मांडलिकत्व को चुनौती दे कर और द्वारसमुद्र के वीरवल्लाल यादव को परास्त करके देवगिरि में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। देवगिरि शहर को भी इसने ही बसाया। इसकी मृत्यु सन् ११९१ में हुई। इसके पीछे इसका पुत्र जैतुगी (जैत्रपाल) गद्दी पर बैठा। यह भी एक अच्छा वीर था। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर, जैत्रपाल के मुख्य पंडित थे। 'परमामृत' और 'विवेकसिंधु' ग्रंथों के रचयिता और सुविख्यात सत्पुरुष मुकुंदराज इन्हीं के शासन काल में हुए थे। सन् १२१० में जैत्रपाल का देहान्त हो गया। इनके पीछे इनका पुत्र सिंघण सिंहासनारूढ़ हुआ। यह बड़ा ही पराक्रमी था। इसके शासनकाल में यादवों की सत्ता चरमसीमा को पहुँच गयी। इसने उत्तर में मालवा और गुजरात, पूर्व में छत्तीसगढ़, पश्चिम में कोंकण और दक्षिण में महाराष्ट्र प्रान्त अपने राज्य में मिला लिया और अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। सिंघण बड़ा धार्मिक था और उसे मंदिर बनवान की बहुत अभिरुचि थी। सोंधल के पुत्र शार्ङ्गधर ने 'संगीत रत्नाकर' नामक ग्रंथ सिंघण के शासनकाल में लिखा।‡ सिंघण के पश्चात् उसका नाती कृष्णदेव सन् १२४७ में गद्दी पर बैठा। उसने बहुत से यज्ञ किये। इसके पश्चात् उसके छोटे भाई महादेव को सन् १२६० में राज्य पद प्राप्त हुआ। यह भी पराक्रमी राजा था। इसके शासन काल में सुप्रसिद्ध महापंडित हेमाडपंत यादव साम्राज्य के 'श्रीकरणाधिप' हुए।

महादेव के पीछे सन् १२७१ में उसके पुत्र रामदेव को गद्दी मिली। ज्ञानेश्वरी के अंत में इन्हीं का गौरवपूर्वक उल्लेख किया गया है। श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि इस क्षेत्र में सकल कलाओं से

‡ आज के शोधकों ने यह सिद्ध किया है कि 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ के लेखक शाङर्गदेव थे और उनके पिता का नाम सोढलदेव था।
—डा. शं. गो. तुळपुळे

सम्पूर्ण न्याय से प्रजा का पालन करने वाला यदुकुल भूषण रामराजा राज करता था।

तेथ यदुवंश विलासु। सकल कला निवासु।
न्यायातें पोषी क्षितीशु। श्री रामचन्द्र ॥‡

रामदेव धार्मिक † था परन्तु दुर्दैव से नीतिज्ञ अथवा शूर न था। इसके शासन काल में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि पर आक्रमण किया और रामराव को परास्त किया और उसको अपने अधीन करके अपार संपत्ति दिल्ली को ले गया। जब रामदेव ने खिराज देना बंद कर दिया तो मलिक काफ़ूर ने फिर उस पर आक्रमण किया और उसे पकड़ कर दिल्ली ले गया। छह महीने बाद वापिस आने पर वह खिराज नियम से भेजता रहा। इसके दो वर्ष बाद सन् १३०९ में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र शंकरदेव गद्दी पर बैठा। उसने भी खिराज देना बंद कर दिया। आख़िर मलिक काफ़ूर नें उस पर आक्रमण करके उसे प्राण दंड दिया और यादवों का राज्य स्वाधीन कर लिया।

सामाजिक परिस्थिति :

इस संक्षिप्त इतिहास से यह बात प्रकट होती है कि स्वधर्मी यादव राज्य की छत्रछाया में जब महाराष्ट्र देश स्वराज्य सुख अनुभव कर रहा था तब ज्ञानदेव का जन्म हुआ। हेमाद्रि की राज्य प्रशस्ति में इसके ऐश्वर्य का वर्णन है। ज्ञानेश्वरी से भी मालूम होता है कि ग्रंथकर्ता जिस समाज में कालयापन करता था वह समाज धनाढ्य और वैभव सम्पन्न था। ज्ञानदेवादि चार भाई-बहन समाज बहिष्कृत, अर्थात् निर्धन संन्यासी की संतानें थीं। भला उन्हें सोने, चाँदी का स्पर्श कहाँ ? परन्तु

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १८।१९०४।

† महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश (य) विभाग १९, पृ० २५।

ज्ञानेश्वरी में सोना, मोती और रत्नों के बहुत से दृष्टांत बिखरे हुए मिलते हैं ।‡

इसके अतिरिक्त सोना गलाने की पद्धति संबंधी दृष्टांत भी बार-बार दिये है । इससे स्पष्ट है कि ज्ञानदेव के सामने और जिस समाज के लिए वे लिखते थे उसमें सोना और मोती दोनों का बाहुल्य था । यदि ऐसा न होता तो उनके ग्रंथ में बार-बार इनका उल्लेख होना संभव न था । ज्ञानदेव के काल में देश धन-धान्य से समृद्ध था । इसका एक सुन्दर उदाहरण यह भी है कि अच्छे और रसीले अंगूर के गुच्छे उत्पन्न करने के लिए अंगूर की बेलों को दूध से सीचा जाता था । अंगूर की बेल में पानी के बदले दूध डालते समय यह मालूम होता है कि यह व्यर्थ गया परन्तु जब उस बेल में बड़े-बड़े रस-भरे गुच्छे लगते हैं तो परिणाम मधुर दिखाई देता है ।

जेव्हां द्रांक्षीं दूध घातलें । तेव्हां वायां गेलें गमलें ।
परी फळ पाकीं दुणावलें । देखिजे जेवीं ।†

आजकल जहाँ पीने को, दूध का ही अकाल है भला अंगूर की बेल को दूध से कौन सीचेंगा ?

सांस्कृतिक परिस्थिति :

देश में नाना शास्त्र और कला की वृद्धि होना भी इसकी सम्पन्नता का द्योतक है। ज्योतिष, शिल्प, नौकायन सूप, कोक, व्याकरण, नीति, वैद्यक, धातुवाद, तर्क, वेदांत, योग इत्यादि शास्त्रों का उल्लेख ज्ञानेश्वरी में अनेक बार आया है । ज्ञानदेव के काल में विशेषत: शिल्प व चित्रकला में कितनी उन्नति हुई थी इसका अनमान आगे के दृष्टांत से हो सकेगा ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी १५।३४१; १५।५६७; १७।३२२; १८।३१४; १८।७२१; १८।९८१; १८।१०८७; १८।१२५४; १८।१७३९ ।

† ज्ञानेश्वरी अ. १५।५९२ ।

जिस दीवार पर सुन्दर चित्र बने हुए हों उसके सामने की दीवारों को घोंट कर उज्ज्वल बना दिया जाए तो उज्ज्वल दीवार पर चित्रों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मन का भाव अर्जुन के शुद्ध अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हुआ ।

कां प्रतिभितीं चोखटे । समोरील चित्र उमटें
तैसा अर्जुनें आणि वैकुंठें । नांदतसे बोधु ॥ ‡

ज्ञानेश्वर-काल में बहुत से मंदिर और क़िले बनाये गये थे । ज्ञानेश्वरी में क़िले और मंदिरों की रचना के अनेक रूपक हैं परन्तु अमृतानुभव का नीचे का उल्लेख महत्त्व का है :—

मनुष्य देव, मंदिर, मूर्ति इत्यादि पहाड़ तराश कर बड़े परिश्रम से बनाते हैं, परन्तु ऐसा व्यवहार क्या ईश्वर-भक्ति में नहीं हो सकता ?

देव देऊळ परिवारू । कीजे कोरूनि डोंगरू ।
तैसा भक्तीचा वेव्हारू । कां न व्हावा ॥ †

इसमें संशय नहीं कि ये पंक्तियाँ लिखते समय ज्ञानदेव के सामने एलोरा की सुन्दर गुफ़ाएँ होंगी । लोगों के सामने इसी प्रकार के अन्य रमणीय स्थान होंगे । इसीलिए ये दृष्टांत दिये गये हैं ।

रामदेवराव यादव के राज्य का जो इतिहास ऊपर लिखा गया है उसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । पहली बात तो यह कि ज्ञानदेव के पूर्व कई वर्षों तक और उनके जीवन में महाराष्ट्र देश, स्वधर्मी राजा की छत्रछाया में स्वराज्य-सुख अनुभव कर रहा था । दूसरी बात यह कि ज्ञानदेव काल में मुसलमानों और मलेच्छ धर्म का प्रवेश महाराष्ट्र में नहीं हुआ था । $

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १५।४४४ । † अमृता ९।४१ । $ ज्ञानेश्वरी में 'म्लेच्छ' शब्द मुसलमान के अर्थ में उपयुक्त हुआ है [नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर वाङमय आणि कार्य पृ० ४१-४४] ।

इसी प्रकार उनके ग्रंथ में मूर्त्ति-भंजकों के कार्यों का उल्लेख भी नहीं मिलता। इसके विपरीत ऐसा उल्लेख है कि बहुत से लोग स्थावर पूजक थे और ईश्वर को पत्थर समझने वाले मूर्ति पूजा के निकृष्ट स्वरूप पर उन्होंने बहुत-सी जगह प्रहार किया है।‡

धार्मिक परिस्थिति :

यादव साम्राज्य की अभिवृद्धि के कारण महाराष्ट्र विलासिता में निमग्न था। यद्यपि महाराष्ट्र में अभी इस्लाम धर्म का चाँद उदय होने वाला था।† परन्तु जैन, लिंगायत और महानुभाव पंथ वैदिक

‡ ज्ञानेश्वरी १८।५६७; १८।५६९; १८।५७०; १८।५७१।

† नामदेव के एक अभंग में "राजा भ्रष्ट हुए, यवन धर्म स्वीकार किया" ऐसा उल्लेख मिलता है। उसका अर्थ इतना ही लेना चाहिए कि हिन्दुस्तान में न कि महाराष्ट्र में यवनों की सत्ता बढ़ती जा रही थी। हो सकता है कि दीर्घजीवी नामदेव ने महाराष्ट्र में स्वच्छन्द विचरते हुए यवनों को देखा हो और उनके संस्कार इस वर्णन में प्रतिबिंबित हुए हों।

परन्तु न. र. फाटक का मत है कि ज्ञानेश्वर कालीन कलियुग ने सब प्राणियों को पीड़ित कर रखा था। उस समय का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :—

लोगों को शास्त्राभ्यास करने के लिए स्वतंत्रता प्राप्त न थी। अपने मन के संशयों को दूर करने के लिए किसी पंडित के पास जाने के लिए अवकाश न था, क्योंकि पंडित वर्ग अपने अभिमान में चूर-चूर थे। किसी देवस्थान में जा कर निश्चिन्त चिन्तन करें तो उस स्थान पर मस्जिद बनने का संकट था। तीर्थों पर जा कर पवित्र वातावरण में अन्तः-शुद्धि साधें तो तीर्थों की दुर्दशा हो रही थी, कहीं सुरक्षा का पता न था।

[**नरहर रघुनाथ फाटक :** श्री ज्ञानेश्वर वांङमय आणि कार्य, पृष्ठ ४६]

धर्म की जड़ें खोखली करने का काम कर रहे थे। वैदिक धर्मान्तर्गत पंथों के आपसी विरोध, विशेष कर शैवों और वैष्णवों की पारस्परिक असहिष्णुता के कारण वैदिक धर्म को भारी धक्का लगा। धार्मिक लोगों की दृष्टि धर्म के बाह्यांग पर ही विशेष चिपकी रही और उसके सच्चे अन्तः स्वरूप को लोग भूलने लगे। अतः वैदिक धर्म का जोर और परधर्म से टक्कर लेने की शक्ति अन्दर ही अन्दर बहुत खोखली हो गयी थी। इस समय वैदिक धर्म का मौलिक और यज्ञीय स्वरूप कभी का बदल चुका था और पहले के आचार-विचार में महत्त्वशाली रूपांतर हो चुका था। व्रत, उद्यापन, नियम, यंत्र-तंत्र, तीर्थ-यात्रा, नाग-बहिरोबा, देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि की पूजा का मान बढ़ चुका था।

व्यभिचारिणी भक्ति का विवेचन करते हुए ज्ञानदेव ने इसी तथ्य की ओर इशारा किया है और इस स्थिति को सम्हालने के लिए यह उपदेश दिया है :

"तुम व्रत वैकल्प मत करो। व्रत और तपस्या से शरीर को कष्ट मत दो। तीर्थ यात्रा के लिए दूर जाने का श्रम मत करो। योगादि साधन, सकाम आराधन और मंत्र-तंत्रादि अनुष्ठान न करो। स्वधर्म छोड़ कर अन्य देवताओं का पूजन मत करो, केवल वर्णाश्रमानुकूल धर्म का सुख से आचरण करो।"‡

ज्ञानदेव के समान नामदेव ने भी अवैदिक देवताओं की भरमार की ओर इशारा किया है। यथा—

अरे ! तू वृथा ही जाखाई जोखाई उदंड देवताओं की पूजा का कष्ट करता है। एक चक्रपाणि के सिवाय अन्तकाल के भय से तुझे कोई छुड़ा न सकेगा। नाना प्रकार के असंख्य देवता हैं जो सेंदुर और शीरनी की इच्छा करते हैं। क्या ये देवता तेरी पीड़ाओं को नष्ट कर

‡ ज्ञानेश्वरी : अ. ३।८९-९०

सकते हैं ? अन्धा मत बन। श्री पंढरीनाथ का स्मरण कर। लोग क्षुद्रदेवताओं को प्रसन्न करने के लिए उन्हें बालकों और स्त्रियों की चोटी चढ़ाते हैं तथा प्राणियों की बलि देते हैं; परन्तु इससे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। वे नाना धातुओं की प्रतिमा बना कर उनकी षोडशोपचार पूजा करते है और कुसमय में उन्हें बेच कर खा लेते हैं। इन देवताओं से क्या किसी की आस पूरी हुई है ?‡

साहित्यिक वातावरण :

दीर्घ काल तक लोग यह समझते रहे कि मराठी भाषा की आद्य कृति साधुवर्य मुकुंदराज रचित 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' हैं। किन्तु इन ग्रंथों की भाषा कुछ आधुनिक-सी मालूम होती है। अतः बहुत वर्षों तक यह माना जाता था कि मराठी का आद्य ग्रंथ ज्ञानेश्वरी है। परन्तु हाल के प्रकाशित महानुभावीय मराठी साहित्य से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि मराठी भाषा में ज्ञानेश्वर काल के पूर्व सुन्दर साहित्य था। शोध की दृष्टि से श्री य० खु० देशपांडे ने अपनी 'महानुभावीय मराठी वाङमय' नामक पुस्तक में बताया है कि इतर साहित्य तो था ही गीता पर भी लगभग सात टीकाएँ थीं और उन टीकाओं की एक सूची भी दी है।

शालिवाहन की सातवीं शताब्दी में मराठी भाषा बन रही थी और उसे स्वतंत्र नाम प्राप्त होने का वैशिष्ट्य उस समय मिल चुका था†। बहुजन समाज में जैसे-जैसे संस्कृत का ज्ञान कम होता गया वैसे-वैसे ग्रन्थकार भी ग्रन्थ-रचना देशी भाषा में ही करने लगे। यादव वंश में मराठी का ही राज्य था, इसलिए स्वभावतः इस काल में मराठी भाषा की वृद्धि को बड़ी उत्तेजना मिली। मराठी के साथ-साथ संस्कृत भाषा के

---

‡ नामदेव—अभंग १८८५।१-२; १८८६।१-३, ५-६

† देखिए—विविध ज्ञान विस्तार, सितम्बर मास का अंक सन् १९२८, लेखक प्रो. चि. वि. जोशी, एम. ए.।

अपभ्रंश का भी प्रचार होता रहा। नामदेव ने ज्ञानेश्वरी का वर्णन करते हुए लिखा है कि ज्ञानदेव ने छप्पन भाषा का अध्ययन किया और संसार सागर से तरने के लिए ज्ञानेश्वरी तैयार की।

छप्पन भाषेचा केला से गौरव। भवार्णवीं नाव उभारिली‡

इतना ही नहीं ज्ञानेश्वरी में कनड़ी शब्द है। ज्ञानदेव के दो-तीन कनड़ी अभंग भी प्रसिद्ध है।

ज्ञानदेव के पूर्व भी गीता पर कई टीकाएँ थीं, ऐसा ऊपर उल्लेख किया गया है। परन्तु बारहवें अध्याय में नमन के समय ज्ञानदेव अपने गुरु से यह माँगते हैं कि मराठी की नगरी में ब्रह्मविद्या का लेन-देन सस्ता होवे।

ये मऱ्हाठियेचिया नगरीं। ब्रह्म विद्येचा सुकाळु करीं।†
घेणें देणें सुखचि वरी। हों देईं या जगा॥

और जगह-जगह यह कहते हैं कि यह गीता की भावार्थ दीपिका एक अपूर्व ग्रन्थ है। इससे यह मालूम होता है कि उस समय भी अन्य टीकाएँ प्रसिद्ध न थीं। ज्ञानदेव काल में बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का मराठी अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया। कुछ ग्रन्थ जैसे, 'विवेक सिंधु', अनुभवामृत, गोरक्षगीता, अमरसंवाद अथवा चक्रधर सूत्रपाठ इत्यादि छोटे-छोटे अध्यात्म प्रकरण स्वतंत्र लिखे गये। गद्य साहित्य बहुत ही कम था। पद्य ग्रंथों में आबाल सुबोध ओवी छंद को ही अपनाया गया है। ज्ञानदेव ने इस ओवी छंद से ही अभंग वृत्त निकाल कर उसका प्रसार किया। तात्पर्य यह कि ज्ञानेश्वरी के पूर्व में मराठी की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि इसमें उत्तम विचारों को अच्छे वेष में वर्णन किया जा सकता था। इस काल में महानुभावियों ने मराठी साहित्य की बड़ी सेवा और अभिवृद्धि की।

---

‡ नामदेव अभंग ९९२। † ज्ञानेश्वरी—१२।१३-१६; ६।१३२-१३४।

ज्ञानेश्वर का आविर्भाव

लगभग सात सौ वर्ष हुए महाराष्ट्र प्रदेश में एक महायोगी संत ने जन्म लिया था। उनका नाम ज्ञानदेव है। वे सचमुच ज्ञान की मूर्ति ही थे। इसीलिए उन्हें लोग 'ज्ञानेश्वर' भी कहते हैं। उन्होंने ज्ञानामृत बरसा कर सब के लिए मोक्ष का द्वार खोल दिया है। भारतवर्ष में ऐसे महात्मा सदा जन्म लेते रहे हैं, जिन्होंने स्वतः कष्ट झेल कर संसार को सुखी किया। उनका जीवन हमारे लिए एक आदर्श है। उनका ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' ज्ञान का भंडार है। इसके मार्गदर्शन में हम अपना कल्याण कर सकते हैं। हम कुपुत्रों ने उनका निरादर किया, गालियाँ दीं परन्तु उन्होंने इसके बदले हम से प्रेम ही किया। **"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"**। इन चरित्र नायक के उपकारों से हम इतने दबे है कि उनसे हम उऋण नहीं हो सकते। इसीलिए उन्हें ज्ञानेश्वर माऊली (माता) कहते हैं।

ज्ञानदेव के पूर्वज आपेगाँव के निवासी थे। [आपेगाँव महाराष्ट्र राज्य में पैठण से चार कोस पर गोदावरी के उत्तर तीर पर बसा हुआ है] ये माध्यंदिन शाखा के देशस्थ यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका गोत्र वत्स था। ज्ञानदेव के दादा का नाम गोविंदपंत और दादी का नाम नीराबाई था। दोनों ही सात्विक और स्वकर्म निरत थे। ‡ पचपन (५५) वर्ष की ढलती आयु में नीराबाई की कोख से पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। इसका नाम विट्ठलपंत रखा गया।

विट्ठलपंत बचपन से ही विरक्त थे। माता-पिता ने योग्य समय आने पर उनका उपनयन संस्कार किया। उस समय की प्रथा के अनुसार विट्ठलपंत ने वेद, शास्त्र, व्याकरण व काव्य का अध्ययन किया और

‡ ज्ञानेश्वर विजय. अ. १ श्लो. १९

छोटी आयु में ही निपूण शास्त्र-वक्ता बन गए । विद्यार्जन के बाद पिता और गुरू की वंदना करके और उनकी आज्ञा लेकर विट्ठलपंत तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े । वे पहले द्वारिका गये वहाँ कृष्णमूर्ति के दर्शन किये । वहाँ से तीर्थ करते हुए त्र्यंबक आए जहाँ ज्योतिर्लिंग के दर्शन किये । वे कृष्ण और शिव को एक भाव से भजते थे उन्हें अब पंढरी की याद आयी । पंढरी के मार्ग में यह तरुण पथिक इन्द्रायणी नदी के तीर शिवपीठ अलंकापुरी (आळंदी) में पहुँचा । महाराष्ट्र का भाग्य ही उन्हें वहाँ खींच लाया । इंद्रायणी में स्नान करके सिद्धेश्वर महादेव के सामने स्वर्ण अश्वत्थ के नीचे विट्ठलपंत नित्य नियम करने के लिए बैठ गए । इतने में आलंदी के कुलकर्णी सिधोपंत सिद्धेश्वर के दर्शन के लिए आए । वे एक तेज पुञ्ज, ज्ञानी, रूपवान, कुलीन, साधु, विद्वान्, विचारशील, पवित्र व सज्जन तरुण को नित्य कर्म करते देख कर प्रसन्न हुए। वे अपने भाग्य को सराहने लगे कि मुझे सत्पात्र, सकल गुण संपन्न जामाता बिना प्रयास ही मिल गया ‡ । वे इस अतिथि को बड़े आग्रह से भोजन के लिए अपने घर ले गए । भोजनोत्तर बातचीत में सिधोपंत ने विट्ठलपंत से पूछा कि उनके घर में कौन-कौन हैं ? घर की जीविका क्या है ? तीर्थ-यात्रा का प्रसंग किस निमित्त से प्राप्त हुआ ? सिधोपंत ने विट्ठलपंत को अपने घर रहने का आग्रह किया । पंढरीनाथ ने सिधोपंत से रात में स्वप्न में कहा कि अपनी कन्या का विवाह विट्ठलपंत से कर दो । प्रातःकाल होते ही सिधोपंत ने अपनी इच्छा विट्ठलपंत के सामने प्रकट की ।

इस पर विट्ठलपंत ने कहा "मुझे रामेश्वर की यात्रा को जाना है । माता-पिता दूर हैं और मुझे अपने इष्टदेव की आज्ञा भी नहीं हुयी है । अतः मैं आपकी कन्या को अंगीकार नहीं कर सकता"—यह उत्तर सुन कर सिधोपंत ने कहा कि आप आज ही जाने की जल्दी न करें । एक

‡ ज्ञानेश्वर विजय. अ. १. श्लो. ४३

रात तो यहाँ विश्राम करें और यदि मेरे सौभाग्य से आपको रात में आज्ञा मिल जाए तो रुक्मिणी को स्वीकार कर लेना नहीं तो, आगे जाने का आपका मार्ग खुला हुआ ही है। इस नम्र निवेदन को सुन कर विट्ठलपंत ने एक रात रहना स्वीकार कर लिया। रात में विट्ठलपंत तुलसी के घरुए के पास के चबूतरे पर सो गए।

विट्ठलपंत को सपने में शिवजी ने कहा "तुम भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और प्रेम के आगार हो। रुक्मिणी की कोख से यही चारों साकार हो कर जन्म लेंगे। अत: मेरी आज्ञा मान कर इसे स्वीकार करो।‡

प्रातःकाल जागते ही विट्ठलपंत ने अपना सपना सिधोपंत से कहा और उसकी कन्या अंगीकार करने की स्वीकृति दे दी। विट्ठलपंत की इस तत्परता को देख कर सिधोपंत को परम हर्ष हुआ और ज्योतिषी को बुला कर जन्मपत्र मिलवाया तो छत्तीस गुण मिल गये। सुमुहूर्त देख कर जेठ के महीने में सिधोपंत ने अपनी सालंकृत कन्या विधियुक्त विट्ठलपंत को दान दे दी।

थोड़े ही दिनों में पंढरपुर को जाने वाले वैष्णवों की टोलियाँ दिखाई देने लगीं। यह देख कर विट्ठल पंत के मन में तीर्थ यात्रा की इच्छा फिर बलवती हुई। उन्होंने अपने इस विचार को श्वशुर से कहा। सिधोपंत ने बड़े आनन्द से सम्मति दे दी और वे भी अपने कुटुम्ब के साथ यात्रा के लिए चल दिये। मार्ग में अपने जामाता की हरिभक्ति में रँगी हुई वृत्ति को देख कर सिधोपंत को बड़ा आनन्द हुआ कि मेरी पुत्री को ऐसा उत्तम वर प्राप्त हुआ है। चलते-चलते सब लोग पंढरपुर पहुँच गये, जहाँ श्यामसुन्दर पंढरीनाथ के दर्शन किये और उनके चरणों में लोटने लगे।

विट्ठल पंत तरुण थे, इसलिए उन्हें गृहस्थाश्रम धर्म पालन करना चाहिए था। परन्तु उनका मन तीर्थाटन में लगा था। उन्होंने अपने

‡ नामदेव अभंग. ८८९।१६-१७

श्वशुर से रामेश्वर जाने का विचार प्रकट किया। सिधोपंत ने उनके मन का भाव समझ लिया और कहा कि मन का विचार पूरा करो। शीघ्र ही तीर्थ-यात्रा करके कुशल क्षेम वापस आना। आज्ञा मिलते ही विट्ठल पंत दक्षिण यात्रा के लिए निकले। श्री शैल्य, व्यंकटाद्रि तीर्थों के दर्शन करके विट्ठल पंत रामेश्वर पहुँचे। अपना संकल्प पूरा करके वे आलंदी वापस आए। अलंकापुरी में आने के पश्चात् विट्ठल पंत को अपने वृद्ध माता-पिता से मिलने की उत्कंठा हुई और वे सिधोपंत से अनुमति ले कर रुक्मिणी के साथ आपेगाँव चले गये। उनके साथ सिधोपंत भी हो लिए।

इधर गोविन्द पंत और नीराबाई बड़ी उत्सुकता से अपने इकलौते पुत्र की प्रतीक्षा में निमग्न थे कि अकस्मात् विट्ठलपंत के सपत्नीक पहुँचने पर उनके आनन्द का पारावार न रहा। इतना ही नहीं उनके साथ अपने समधी और समधिन को भी देखा। सिधोपंत ने अपनी कन्या के सास व समुर को वस्त्र और अलंकार दे कर उनका योग्य सत्कार किया और अपने घर वापस आ गये।

विट्ठल पंत के घर पर आने से गोविंद पंत और नीराबाई के दिन सुख से कटने लगे, परन्तु अति वृद्ध होने के कारण थोड़े ही दिनों में उन्होंनें संसार से अपनी आँखें मूंद लीं। गृहस्थी का सब भार अब विट्ठल पंत के कंधों पर पड़ा, परन्तु विट्ठल पंत जन्म से ही विरक्त थे, इसलिए संसार की चिन्ता उन्हें न व्यापी। ईश्वर पर सब भार डाल कर वे अखंड शान्त वृत्ति से रहते थे। उनकी उदासीन वृत्ति की बात सिधोपंत के कान तक पहुँची। वे शिष्टाचार के लिए आपेगाँव आये। सिधोपंत ने विट्ठल पंत से कहा कि संसार धन के बिना चलता नहीं और तुम्हारी यह उदास वृत्ति है, इसलिए यहाँ रहने के बदले हमारे साथ चलो एक दो सन्तान होने के बाद जब वंश का आधार हो जाए, तो फिर जो तुम्हें पसंद आये करना। वे विट्ठल पंत और रुक्मिणी को आलंदी बुला

लाये। सिधोपंत ने, विट्ठलपंत के मनोभावों को अच्छी तरह ताड़ लिया था, इसलिए उन्होंने आलंदी में विट्ठल पंत और रुक्मिणी के विलासमय जीवन की सब सामग्री जुटायी परन्तु इससे भी विट्ठल पंत की विरक्ति में कोई बाधा न पहुँची। आलंदी में आ कर विट्ठल पंत तीर्थवास करने लगे। शान्त चित्त से वे नित्य हरिकथा, नाम संकीर्तन और सन्तों के दर्शन में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को पंढरपुर की यात्रा भी करते थे ‡।

इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, परन्तु विट्ठल पंत की वृत्ति संसार में फँसने के बदले संसार से अधिकाधिक विरक्त होने लगी। विवाह हो कर बहुत वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु रुक्मिणी के कोई सन्तान नहीं हुई। विट्ठल पंत ने रुक्मिणी से कहा, "काशी जा कर संन्यास लेने की मेरी इच्छा है। मेरी यह विनती है कि तू मुझे अनुमति दे" विट्ठल पंत के इन शब्दों से रुक्मिणी के हृदय पर वज्राघात हुआ। उसने विट्ठल पंत को संन्यास लेने से साफ़ मना कर दिया और यह बात अपने पिता से कही। पिता ने उसे यह सिखा दिया कि फिर यदि वे कहें तो कह देना कि "जब तक सन्तान न हो संन्यास मत लो" विट्ठल पंत को इसकी रट लग गयी। वे सदा रुक्मिणी से संन्यास लेने के लिए आज्ञा माँगते। रुक्मिणी सदा इनकार करती। एक दिन रुक्मिणी कुछ अनमनी-सी बैठी थी। विट्ठल पंत ने रुक्मिणी से कहा, "मैं ज़रा गंगा स्नान करके आता हूँ।" रुक्मिणी को विदित हुआ कि पतिदेव इन्द्रायणी नदी पर स्नान करने जा रहे हैं। पगली रुक्मिणी बोली, "जाइए"। विट्ठल पंत का मनोरथ सफल हुआ। उन्होंने काशी की राह पकड़ी। जब पति वापस न आये तो उसने अपने पिता को यह समाचार सुनाया। यह जान कर कि पति के वापस आने की कोई आशा नहीं है, वह पतिवियोग में अन्दर ही अन्दर घुलने लगी। उसने अपने जन्म को

‡ नामदेव अ० ८९५।२-३

सार्थक करने के लिए सुवर्ण-अश्वत्थ की सेवा आरंभ कर दी और नियम से काल यापन करने लगी।

काशी पहुँच कर विट्ठल पंत एक श्रीपाद (नृसिंहाश्रम) ‡ के मठ में जा कर ठहर गये। उन्होंने श्रीपाद से प्रार्थना की कि मुझे संन्यास की दीक्षा दीजिए। श्रीपाद ने विट्ठल पंत की विरक्ति को पहचान लिया, परन्तु पूछा कि तुम्हारे गृहस्थी है कि नहीं। विट्ठल पंत ने यह कर कि 'मेरे स्त्री है न सन्तान' अपना मंतव्य निभा लिया। इसके पश्चात् श्रीपाद ने विट्ठल पंत को संन्यास की दीक्षा दी और अब वे विट्ठल पंत से 'चैतन्याश्रम' बन गये। गुरु के समीप रह कर वे शास्त्र अध्ययन और वेदान्त चिन्तन करने लगे। थोड़े दिन बाद उनके गुरु को रामेश्वर यात्रा की इच्छा हुई। आश्रम की पूरी व्यवस्था चैतन्याश्रम को सुपुर्द कर स्वामी जी तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े। मार्ग के तीर्थ करते-करते वे आलंदी आये और एक मंदिर में उतरे। वहाँ रुक्मिणी देव-दर्शन के लिए आयी थी। स्वर्ण-अश्वत्थ की प्रदक्षिणा करके उसने स्वामी जी को नमस्कार किया। स्वामी जी ने उसे 'पुत्रवती भव' यह आशीर्वाद दिया। रुक्मिणी के मुख पर सखेद स्मित रेखा झलकने लगी। स्वामी जी ने हँसने का कारण पूछा। रुक्मिणी ने अपने पति के संन्यास लेने की कहानी सुनायी †। स्वामी जी को बहुत पश्चात्ताप हुआ। श्रीपाद ने रुक्मिणी से उसके पति का पता पूछा। स्वामी जी के मस्तिष्क में बिजली-सी दौड़ गयी। उन्हें संशय होने लगा कि अपना

---

‡ कै. रा. गोडबोले ने अपने 'भारतीय अर्वाचीनकोश' में इन श्रीपाद का नाम रामानन्द बतलाया है। यही रामानन्द कबीर के गुरु थे। बहुत से अर्वाचीन चरित्रकार भी ऐसा ही समझते हैं; परन्तु निलोबा ने चांगदेव चरित्र में उनका नाम 'नृसिंहाश्रम' बतलाया है।

[सकल संत गाथा, **निळोबा**, अ. १५५४]

† [सकल संत गाथा, नामदेव अ. ८९७]

शिष्य चैतन्याश्रम इसी रुक्मिणी का पति विट्ठल पंत तो नहीं है। श्रीपाद ने रुक्मिणी से कहा कि मुझे अपने पिता के पास ले चलो।

सिधोपंत से मिलने के बाद स्वामी जी का संशय दृढ निश्चय में बदल गया। उन्होंने सिधोपंत से कहा "इस दोष के कारण मेरे सब पुण्य क्षीण हो जाएँगे, अतएव तुम दोनों मेरे साथ काशी चलो। मैं तुम्हारी और विटठल पंत की भेंट करा दूंगा फिर उसे रुक्मिणी देवी को स्वीकार करने के लिए मजबूर करूँगा।" आगे की तीर्थ-यात्रा का विचार स्थगित कर स्वामी जी, सिधोपंत और रुक्मिणी को अपने साथ ले कर काशी वापस आये। आलदी की मंडली को एक स्थान में ठहरा कर स्वामी जी अकेले आश्रम मे आये। गुरु जी को अचानक वापस आया हुआ देख कर चैतन्याश्रम को आश्चर्य हुआ और उसने स्वामी जी के वापस आने का कारण पूछा। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि इसका कारण तू ही है। फिर धमका कर पूछा कि सच बताओ तुम्हारे घर पर कौन-कौन हैं ? चैतन्याश्रम के ध्यान में सब बातें आ गयीं और उसने सच-सच निवेदन कर दिया, फिर यह कह कर कि मैं अपनी पत्नी की आज्ञा ले कर आया हूँ, स्वामी जी के चरणों पर मस्तक रख दिया। स्वामी जी ने चैतन्याश्रम को उठा कर रुक्मिणी का उससे पुनः गठ-बंधन करा दिया और आशीर्वाद दिया कि सुख से गृहस्थ जीवन व्यतीत करो।

उन्होंने उपदेश किया कि अब रुक्मिणी को अंगीकार करो। मन में यह शंका मत आने दो कि यह कर्म अनुचित और शास्त्र-विरुद्ध है। इस कर्म के लिए जगदीश तुम्हारे साथ है। अपने घर को जा कर सुखमय गृहस्थाश्रम धर्म पालन करो‡।

---

‡ नामदेव, अ० ८९९।७-८

विटठल पंत पूर्ण गुरुभक्त ‡ थे, अतः स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य कर चैतन्याश्रम पुनः संन्यासी से गृहस्थाश्रमी बन गये और दक्षिण में आ कर कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करने लगे।

विट्ठल पंत व रुक्मिणी जिस काल में पैदा हुए उस काल की और आज की धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। उस समय धर्म समाज का प्राण समझा जाता था और समाज व जाति विषयक बन्धन बड़ी सख़्ती से पाले जाते थे। एक बार चतुर्थाश्रम स्वीकार करने के बाद फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना असाधारण व जनरूढि विरुद्ध कार्य समझा जाता था। अत. जब ब्राह्मणों ने यह सुना कि चैतन्याश्रम संसार करने लगे तो सब इष्टमित्रों ने उन्हें जाति-च्युत कर दिया। उनको नमस्कार करना तो दूर रहा उनके दर्शन करने को कोई तैयार न था। विट्ठल पंत का लोग इतना उपहास करने लगे कि उनको भीख भी न मिलती। कभी वृक्षों के पत्ते खा कर रह जाते, कभी पानी से पेट भरते और कभी केवल वायु का ही भक्षण करते। विट्ठल पंत को जाति बहिष्कार, स्वजन-परित्याग और जन-निन्दा इत्यादि दुःख सहन करने पड़े। उन्होंने गाँव के बाहर अपनी झोंपड़ी डाली और गुरुवचन पर अटल विश्वास रख कर शान्त चित्त से शास्त्राभ्यास और ईश-चिन्तन करते हुए काल-यापन करने लगे †।

इस प्रकार मुसीबत में लगभग बारह वर्ष बीतने पर विट्ठल पंत की वंशबेल में नयी कोंपलें फूटीं $। शके ११९० में रुक्मिणी बाई गर्भवती हुईं और उनको पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उनका नाम निवृत्ति रखा गया। इसके पश्चात् तीन-तीन वर्ष के अन्तर से तीन संतानें और हुईं, जिनमें से दो पुत्र और तीसरी कन्या थी। पुत्रों के नाम

‡ [ज्ञानेश्वरी, १३।४४४-४४५, ४४७] † ज्ञानदेव विजय, अ. २ श्लो. ५६-५७ $ नामदेव, अभंग ९००।४-५।

ज्ञानदेव और सोपानदेव और कन्या का नाम मुक्ताबाई था। ज्ञानदेव दूसरे पुत्र थे, इनका जन्म शके ११९३ में हुआ। इन सबका जन्म, पुण्य क्षेत्र आलंदी में हुआ।

शालिवाहन शके अकराशें नव्वद।
निवृत्ति आनंद प्रगटले ॥
त्र्याण्णवाच्या सालीं ज्ञानेश्वर प्रगटले।
सोपान देखिले शाण्णवांत ॥
नव्याण्णवाच्या सालीं मुक्ताई देखिली।
'जनी' म्हणे केली मात त्यांनीं ॥

—जनाबाई, अ. २७७

जीवन-चर्या

निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाई की बाल-लीला से विट्ठल पंत और रुक्मिणी की आनन्द बेल फूलने लगी, परन्तु ये आनन्द के दिन बहुत काल तक न टिक सके। समाज बन्धन को तोड़ने वालों को जो कष्ट झेलने पड़ते है, उनसे कहीं अधिक कष्ट इस बन्धनातीत दंपती की संतानों को भोगना पड़ा। विट्ठल पंत और रुक्मिणी समाज पर अधिक अवलम्बित न थे, क्योकि अन्त्येष्टि संस्कार के अतिरिक्त उनके सभी संस्कार हो चुके थे, परन्तु इन बालकों के कोई संस्कार अभी नहीं हुए थे। विट्ठल पंत और रुक्मिणी ऐसे तामसी व स्वार्थी वृत्ति के माता-पिता नहीं थे, जो यह समझते कि जिस प्रकार हमने समाज को तिलांजलि दी है, वैसे ही हमारी सतानें भी करें। वे तो शास्त्र-संस्कारों में श्रद्धा व आदर रखते थे, अतः अपनी सन्तानों का भविष्य सोच कर उन्हें एक असीम अन्तर्वेदना होती थी। विट्ठल पंत गाँव के बाहर एक झोपड़ी में अपने छोटे बालकों के साथ रहते थे। इस अवस्था में उन्हें अत्यन्त कष्ट व अपमान सहन करना पड़ता था। विट्ठल पंत के बालकों के मुखदर्शन को ही गाँव के लोग अपशकुन समझते थे।

एक दिन ज्ञानदेव गाँव में भिक्षा माँगने के लिए गये। संन्यासी के इस बालक को देख कर एक धर्म मार्तण्ड कहने लगे मेरा अपशकुन हुआ है। ज्ञानदेव ये अपशब्द न सह सके। वे खिन्न हो कर अपनी झोंपड़ी में लौट आये और अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया। मुक्ता बाई भिक्षा माँग कर घर आयी तो घर के दरवाज़े बन्द थे। बिचारी के होश उड़ गये, परन्तु उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति आलोकित थी। वह समझ गयी कि आज भैया ज्ञानेश्वर से किसी ने दुर्व्यवहार किया

है। उसने ज्ञानेश्वर से बड़ी विनय से प्रार्थना की, "भैया, दया करो दरवाज़ा खोलो। संतों को संसार में सबकी गालियाँ सहनी पड़ती हैं। उसे ही बड़ा समझा जाता है, जिसे अभिमान नहीं होता और जो सब प्राणियों पर दया करता है। तुम क्यों क्रोध करते हो। तुम्हारी समदृष्टि है, फिर किस पर क्रोध ? तुम सर्वत्र ब्रह्म ही देखते हो। भैया दरवाज़ा खोलो, योगी मन से पवित्र होते हैं और सबके कष्टों को झेलते हैं। यदि विश्व अपने मुख से अग्नि की वर्षा करे तो संत को चाहिए कि वह अपने मुख से पानी की वर्षा करे। यदि कोई शब्दबाण मारे तो संत को इसे उपदेश समझना चाहिए। तुम्हें स्वतः तरना है और विश्व को तारना है, इसलिए भैया शान्त हो कर दरवाज़ा खोलो‡।"

इन मुसीबतों से तंग आ कर सब लोग तपस्या के लिए प्रसिद्ध त्र्यंबक तीर्थ को चल दिये। शरीर दंड के रूप में सब ने गोदावरी के उद्गम स्थान ब्रह्मगिरि पर्वत की प्रतिदिन प्रदक्षिणा आरंभ की। एक दिन सन्ध्या समय विट्ठल पंत और रुक्मिणी बालकों को ले कर त्र्यंबकेश्वर की प्रदक्षिणा के लिए निकले। मार्ग में उन्हें एक बाघ कूदता-फाँदता दिखाई दिया। उसे देख कर सबके छक्के छूट गये। जिधर मार्ग मिला बालक भाग गये। बालक निवृत्ति अंजनी पर्वत की एक गुफ़ा में घुस गया। वहाँ गहिनीनाथ नाम के एक सिद्ध पुरुष तपस्या कर रहे थे। निवृत्ति ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। गहिनीनाथ ने निवृत्ति को देख कर बड़ा अचम्भा किया। उन्होंने उस बालक पर अनुग्रह किया। उसे गुरुमंत्र दिया। तब से निवृत्ति, निवृत्तिनाथ बन गये। सात दिन बाद निवृत्तिनाथ अपने गुरु की आज्ञा ले कर अपने स्थान पर वापस आये। निवृत्तिनाथ को देख कर विट्ठल पंत और रुक्मिणी के प्राण में प्राण आ गये। निवृत्तिनाथ ने इस पारमार्थिक

---

‡ ज्ञानदेव अभंग गाथा (साखरे प्रति) पृ. ३५८।

धन को अपने छोटे भाई ज्ञानदेव को दे दिया ‡। ज्ञानदेव ने अपने छोटे भाई सोपान व छोटी बहन मुक्ताबाई को वही ज्ञान बतलाया। इस प्रकार ये चारों भाई बहन लगभग आठ वर्ष के अन्दर ही जाति-पांति मुक्त आनन्दघन, आत्मरूप बन गये। इस सुसंस्कार के कारण उनका आगामी चरित्र अलौकिक हुआ। प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप होने के कारण ब्रह्मगिरि की प्रदक्षिणा देते रहने की अब आवश्यकता न थी, अतः सब लोग आलंदी वापस आए।

आलंदी वापस आने पर विट्ठल पंत को एक कठिनाई का सामना करना पडा, जिससे छुटकारा पाने का विचार वे बहुत दिनों से कर रहे थे। विट्ठल पंत ने निवृत्ति के उपनयन संस्कार का विचार किया। विट्ठल पंत और उनके बालकों के दर्शन को ही जब आलंदी गाँव के लोग अपशकुन समझते थे, तो विट्ठल पंत की ओर से उनके बालकों के उपनयन संस्कार की बात कौन निकाले? यद्यपि समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया था, परन्तु श्रद्धालु विट्ठल पंत को अभी भी समाज से इसलिए अधिक प्रेम था कि अपने कर्म अपने बालकों के अभ्युदय व उन्नति में रोड़े न अटकाएँ। अतः उनकी यह उत्कट इच्छा थी कि उनके जीते जी बालकों का उपनयन संस्कार हो जाए। इसके लिए अपने को जिस समाज ने जातिच्युत किया, उसकी शरण में जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग न था। अतः उन्होंने आलंदी के ब्राह्मणों की सभा बुलाई और सबसे प्रार्थना की कि "हम दीनों पर दया करो। आप लोग वेदों में पारंगत हैं। हम पतितों को शुद्ध करने के लिए धर्म-शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त है तो कहिए हम छहों प्राणी उसे मानने के लिए तैयार हैं †। वहाँ एकत्रित हुए, पुण्य श्लोक शास्त्रज्ञ वैदिक महाजनों ने ग्रन्थ देखे, परन्तु किसी को भी इन धर्मग्रन्थों में, विठ्ठल पंत और उनके कुटुम्ब को शुद्ध करके समाज में

‡ [ज्ञानेश्वरी, अ. १५।१९] † [नामदेव, अ. ९००]

लेने का कोई आधार न मिला। उन्होंने विट्ठल पंत को अपना कठोर निर्णय बताया 'देहान्त प्रायश्चित्त'... दूसरा कोई उपाय नहीं है ‡।

विट्ठल पंत आदि से ही विरक्त थे। उन्हें माया का बन्धन पहले से ही कम था, अतः अपने और अपनी संतति के कल्याण के लिए वे त्रिवेणी में डूब कर अथवा काशी करवट ले कर देहान्त प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार थे। उन्होंने इस प्रायश्चित्त को शिरोधार्य किया और पाप का परिमार्जन करने का विचार मन में ठाना। विट्ठल पंत और रुक्मिणी दोनों ने अपने छोटे-छोटे बालकों को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखा, फिर हृदय पर पत्थर रख प्रयाग की ओर चल दिये। उस पुण्य क्षेत्र में पहुँच कर गंगा-यमुना के संगम पर अपने जीवन प्रवाह को जल प्रवाह के साथ मिला दिया। विट्ठल पंत की इस कृति को देख कर, शास्त्रों के प्रति उनकी श्रद्धा की तो सब ही सराहना करते हैं, परन्तु ज्ञानदेव के प्रति भी अधिक आदर उत्पन्न होता है, उन्होंने उन शास्त्रों के सम्बन्ध में भी, जिनमें देहान्त प्रायश्चित के कठोर दण्ड का विधान किया गया है, नीचे के भाव प्रकट किये हैं : **"शास्त्राज्ञा हो तो राज्य को भी तृण समान छोड़ देना चाहिए।"**

जब माता-पिता के अदृश्य होने की खबर बालकों को लगी तो उन्होंने रो-रो कर अपने प्राण आधे किये परन्तु होनी प्रबल है, अटल है। निवृत्तिनाथ विवेकी थे। उन्होंने धैर्य धारण किया और अनाथ ज्ञानदेव, सोपान व मुक्ताबाई को अपने संरक्षण में ले लिया। यों तो ये चारों बालक कांतिमान व बुद्धिमान थे परन्तु ज्ञानदेव बहुत ही समझदार थे। जन्म से ही उन्हें अपने जीवन में कटुता से पाला पड़ा। अतएव उनकी बुद्धि असमय ही परिपक्व हो गयी थी। बाल्यावस्था से ही ज्ञानदेव का अतःकरण भक्तिभाव से प्लावित था †।

---

‡ [नामदेव : अ. ९०१।२–३]। † ज्ञानदेव ने योग भ्रष्ट पुरुष का आचार संपन्न और बुद्धिमान कुल में जन्म लेने के संबंध में जो वर्णन किया

विट्ठलपंत और रुक्मिणी की संसार यात्रा हो चुकी थी इसलिए उनकी हद तक शुद्धि का प्रश्न मिट गया था परन्तु बालक तो सब अभी शेष थे। इन सब में निवृत्तिनाथ जेष्ठ थे। उन्होंने ब्राह्मण सभा के सामने फिर प्रश्न पूछा कि "महाराज हमारी क्या गति है ?" इसपर अलंदी के ब्राह्मणों ने कहा कि तुम पैठण जा कर शुद्धिपत्र ले कर आओ हम तुम्हें अपनी जाति में ले लेंगे। परन्तु निवृत्तिनाथ केवल नाम के ही निवृत्ति न थे, उनका स्वरूप ही निवृत्ति था। अतः शुद्धिपत्र प्राप्त करने और बेकार कर्म-बंधन अपने पीछे लगा लेने को वे मुसीबत ही समझते थे। उन्होंने ज्ञानदेव से कहा कि हम तो जातिकुलातीत, नामरूपातीत, निजबोधरूप हैं इसलिए मुझे इस देहाश्रित वर्णाश्रम कर्म बन्धन के झगड़े में पड़ने की इच्छा नहीं है। परन्तु ज्ञानदेव को तो वर्णाश्रण धर्म की सुव्यवस्था करनी थी अतः तत्प्रीत्यर्थ लोक संग्रह करना

है उसके अनुरूप ही उनका जन्म और आचरण था। योग भ्रष्ट पुरुष ऐसे कुल में जन्म लेता है जो धर्म का निवास स्थान होता है। इस कुल के पुरुष नीति-मार्ग पर चलते हैं, सत्य और पवित्र भाषण करते है, शास्त्र रीति पर अनुगमन करते हैं। इस कुल में पुरुष वेदाध्ययन करते हैं, स्वधर्माचरण ही उनका व्यवसाय होता है और सारासार विचार ही उनका मंत्री होता है। इस कुल के पुरुष चिन्ता से मुक्त होते हैं और ऋद्धि आदि इस कुल के गृह देवता होते हैं। यह कुल पुण्यवान और सुख समृद्धि-युक्त होता है। इस कुल में जन्म लेनेवाले मनुष्य के ऐश्वर्य की वृद्धि बड़ी तेजी से होती है। [ज्ञानेश्वरी. ६।४४४–४४८]

‡ योगभ्रष्ट पुरुष के जन्म लेने के बाद छोटी आयु में ही उस के आत्मज्ञान का प्रकाश चारों ओर इस प्रकार फैलता है जिसतरह सूर्योदय के पहले उसकी प्रभा छिटक जाती है। उसे बाल्यावस्था में ही ज्ञान वरण कर लेता है। पूर्वजन्म में संपादित बुद्धि के योग से उसे सब विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं और उसके मुख से सब शास्त्र स्वयमेव निकलते हैं। [ज्ञानेश्वरी ६।४५२–४५४]

अभीष्ट था। इसलिए यह बात ज्ञानदेव को पसन्द न आयी और उन्होंने निवृत्तिनाथ से कहा :

"यद्यपि हमारे लिए विधियुक्त और वेद विरुद्ध निषिद्ध कर्म दोनों समान हैं तथापि वेदों ने बताया है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्णानुसार कर्तव्य-कर्म करना उचित है। अतः सन्तों को भी चाहिए कि वे उसपर आचरण करके दूसरों को आदर्श बताएँ। अपने कुलाचार का अवश्य पालनकरना चाहिए और कभी भी अनाचार नहीं करना चाहिए। शास्त्र विरुद्ध आचरण करना पाप है चाहे सिद्धावस्था भी प्राप्त हो जाए‡। सोपानदेव ने भी यही कहा कि पैठण में शुद्ध होने के लिए जाने की हमें आवश्यकता नहीं परन्तु ज्ञानदेव के आग्रह के कारण सब को अपनी गर्दन झुकानी पड़ी व इन सब बालकों ने आलंदी के ब्राह्मणों का पत्र ले कर उन्हें दण्डवत कर दक्षिण काशी अर्थात् प्रतिष्ठान की राह पकड़ी।

पैठण में ब्राह्मणों की सभा बुलाई गई। इस सभा के सामने निवृत्तिनाथ ने आलंदी के ब्राह्मणों द्वारा दिए हुए पत्र को रखा और अपना सच्चा-सच्चा वृत्तांत निवेदन किया। ज्ञानदेव को यह आशा थी कि पैठण के विद्वान् शास्त्राधार निकाल कर हमें शुद्धिपत्र देंगे परन्तु पैठण के ढाक मे भी वही तीन पात। उन ब्राह्मणों ने भी यही निर्णय दिया कि संन्यासी के बालकों को उपनयन का अधिकार नहीं "तुम्हारे लिए कोई प्रायश्चित्त नही है, तुम ने दोनों कुलों को भ्रष्ट किया है†। इसपर निवृत्तिनाथ ने यह प्रश्न किया कि हमारी गति क्या है ? उन पंडितों ने यह सोचा कि यदि इस प्रश्न का उत्तर न दिया जाए तो हमारी अल्पज्ञ समझी जाएगी अतः उन्होंने कहा "शास्त्र का मत है कि संन्यासी के बालकों को अनन्य भक्ति से ईश्वर का भजन और तीव्र अनुताप करना चाहिए। गौ, गधा, कुत्ता और

‡ नामदेव, अ. ९०३। † नामदेव, अ. ९०५।

अन्त्यजों को ब्रह्म समझ कर नमस्कार करना चाहिए ‡ । यदि यह उपदेश किसी सामान्य व्यक्ति को किया जाता तो उसे एक प्रकार शाप ही मालूम होता परन्तु ये चारों भाई बहिन अलौकिक थे † । यह उपदेश सुन कर इन नित्य निवृत्त बालकों को दुःख के बदले सुख ही हुआ । इसलिए इन सबों ने यह कहा कि महाराज आपने जो कहा मान्य है और आनन्द से उन ब्राह्मणों के वाक्यों को स्वीकार किया ।

इस कटु अनुभव से दुःखी हो कर निवृत्तिनाथ ज्ञानदेव, सोपान, व मुक्ताबाई के साथ अपने घर जाने के लिए निकले । मार्ग में कुछ दुष्ट बालकों का इन बालकों के नाम की ओर ध्यान गया । निवृत्ति, ज्ञानदेव इत्यादि नामों को सुन कर वे उनका उपहास करने लगे । इतने में एक पखाल वाला अपने ग्याना नामके भैंसे पर पखाल लाद कर उसी रास्ते से जा रहा था । यह देख कर एक मनुष्य ने उपहास किया कि नाम में क्या रखा है ? इस भैंसे का नाम भी ग्याना है । इसपर ज्ञानदेव ने कहा कि तुम कहते हो सो सच है । उस भैंसे की और मेरी आत्मा एक है न ? जैसे ही भिश्ती ने भैंसे को मारा ज्ञानदेव की पीठ पर साँटें उपट आईं $ । उन्हें देख कर ब्राह्मण लोग हक्का-बक्का हो गए । ज्ञानदेव

‡ नामदेव, अ. ९०५ । † ज्ञानदेव. १७।२११ ।

$ जड़ भरत की वृत्तिका कोई ज्ञानी पुरुष पैठण क्षेत्र में आ कर बस गया होगा । वहाँ के लोग उससे पानी भरवाने का काम लेते होंगे। ज्ञानदेव ने जब इस पुरुष को देखा, वे उसकी योग्यता अपने हृदय में समझ गए होंगे और इसलिए ज्ञानेश्वर उससे वेद पढ़वा सके । उस पुरुष की जड़ वृत्ति को देख कर ही लोग उसे लाक्षणिक भैंसा नाम से पुकारते होंगे तथा भैंसे के समान बलिशाली, निर्बुद्ध, अनाड़ी, स्वेच्छाचारी, कामचोर आचरण देख कर लोग उससे इस प्रकार की सेवा का काम लेते होंगे ।

की इस करुण वृत्ति को देख कर एक ब्राह्मण ज्ञानदेव के पास आ कर बोला "वाहरे वाह ! इस भैंसे की और तुम्हारी आत्मा एक है ! फिर जैसे तुम वेद पढ़ते हो वैसे इस भैंसे को पढ़ने के लिए क्यों नहीं कहते?" ज्ञानदेव ने उस ब्राह्मण के शब्द सुनकर भैंसे की पीठ पर हाथ रखा और कहा "बाबा; ओंकार सहित ऋग्वेद के मंत्र पढ़ो और इनको सुनने दो ।" ज्ञानदेव के शब्दों में विलक्षण शक्ति थी । उनके शब्द सुन कर भैंसा वेद-मंत्र पढ़ने लगा ‡ । यह चमतकार देख कर ब्राह्मण दंग रह गया । ये तीनों ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अवतार हैं और मुक्ताबाई आदि माता हैं † । जिन्होंने नित्य मुक्त हो कर अवतार लिया है । हमने भारी ग़लती की है । हम कर्मकांडी हैं और अभिमान से हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है । हम विधि निषेध के झंझटों में फँस गए हैं । भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का स्पर्श तक हमें नहीं हुआ है । कुटुम्ब के पालन में हम फँसे हुए हैं । दूसरों को उपदेश करते हैं परन्तु हम स्वयं उसपर आचरण नहीं करते । हम प्रतिष्ठा का ढोंग करते हैं । धन्य है इनका वंश और धन्य है इनका कुल ! धन्य है इनके पुण्यशील अवतार को ! सब ब्राह्मणों ने नमस्कार किया और आनन्द से जयघोष किया । पंड़ितों की यह बात सुनकर ज्ञानदेव ने कहा कि आपके चरणों की सब महिमा है । हममें इतनी सामर्थ्य कहाँ है $?

इस प्रकार ज्ञानदेव की अलौकिक योग सामर्थ्य से लोग आश्चर्य चकित रहगए । सभा विसर्जित हुई । शुद्धिपत्र देने का प्रश्न किसी के ध्यान में न रहा । इस घटना के बाद इन बाल भक्तों ने कुछ दिन पैठण में वास किया ।

[नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर : वाङ्मय आणि कार्य पृ. ३२०] ज्ञानेश्वर की पीठ पर साँटे उपटना उनकी सहृदयता का द्योतक है ।

‡ नामदेव, अभंग । † जनाबाई, अ. २७३ । $ नामदेव, अ. ९०६ ।

योग सामर्थ्य से ज्ञानदेव ने जो चमत्कार दिखाया उसका पहले से ही सब के अन्तःकरण पर सिक्का बैठ गया था। अब वे कथा, कीर्तन करने लगे। ज्ञानदेव की वाणी रसाल थी उनका विवेचन प्रासादिक परमात्म-विषयक और विविध घरेलू दृष्टांतों से भरपूर रहता था। इसलिए उनके कथा-कीर्तन में विशेष रग चढ़ने लगा। ज्ञानदेव की ग्रहणशक्ति असाधारण थी। गीता सदृश अध्यात्म ग्रन्थ के गहन तत्त्वों पर वे सुबोध प्रवचन करने लगे ‡। ज्ञानदेव की कीर्ति दिनोंदिन बढ़ती गयी। ज्ञानदेव को लोग एक सिद्ध पुरुष समझने लगे। उनके चारों ओर भक्तों का मेला जमने लगा। उस समय पैठण में श्रोता-वक्ता दोनों ब्रह्मानन्द लूटने लगे।

पैठण में रहते हुए ज्ञानदेव ने एक और चमत्कार किया। एक गृहस्थ के घर श्राद्ध के लिए खीर बनायी गयी। ज्ञानदेव ने मंत्रों द्वारा पितरों को आवाहन किया तो सब पितर वहाँ आ पहुँचे। यह देख कर सब ब्राह्मण कहने लगे कि धन्य है, इनके सदृश दूसरा ब्राह्मण नहीं है। क्योंकि इन्होंने भैंसे के मुख से वेद का उच्चारण करवाया और पितरों को साक्षात् बुला लिया। यह बड़ा विस्मयजनक दृश्य दिखलाया †।

इसके पश्चात् पैठण के सब ब्राह्मण एकत्रित हुए और उन्होंने इन चारों को शुद्धिपत्र दे दिया। वे कहने लगे कि ये तीनों भाई, तीनों देवों के समान भवसागर तारने के लिए अवतरित हुए हैं और मुक्ताबाई आदि माता हैं। इनके लिए प्रायश्चित्त की क्या आवश्यकता है और इन्हें कौन शुद्धि पत्र देने योग्य हैं $? शुद्धिपत्र लेने के बाद निवृत्तिनाथ ने समस्त ब्राह्मणों को प्रणाम किया और भाइयों और बहन के साथ पैठण से चल दिये। पैठण छोड़ते समय उन्होंने उस 'म्याना' को भी साथ ले लिया, जिससे ज्ञानदेव ने वेदमंत्र उच्चारण करवाए थे, इसका कारण यह था कि यह उनका पहला शिष्य था। तत्कालीन महाराष्ट्र

---

‡ नामदेव, अ. ९०७। † नामदेव, अ. ९०७ $ नामदेव, अ. ९०७।

में पैठण वैदिक धर्म का केन्द्र था। वहाँ ज्ञानदेव ने हरिकीर्तन का ऐसा रंग रचा कि उत्तम से ले कर अन्त्यज तक सब के लिए मुक्ति का द्वार खुल गया। यही से महाराष्ट्र में भक्ति के नये युग का आरम्भ होता है।

ज्ञानदेव ने पैठण में जो चत्मकार दिखाए थे, उनसे उनकी कीर्ति संपूर्ण महाराष्ट्र में हवा की तरह फैल गयी। ज्ञानदेव जितने महायोगी थे, उतने ही महान् आत्मानुभवी और वैष्णव भक्त थे। अत: उनके दर्शन के लिए लोगों के झुंड आते और बड़ी श्रद्धा से अध्यात्म सुनने की इच्छा से उन्हें अपने गाँव ले जाने का आग्रह करते। गहिनीनाथ की कृपा से निवृत्तिनाथ, सिद्धि प्राप्त कर चुके थे और निवृत्तिनाथ के प्रसाद से ज्ञानदेवादि भाई-बहन ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हो चुके थे। अब उन्हें कोई काम करना शेष न था, जिस प्रकार वायु एक जगह ठहरती नही उसी प्रकार वे किसी एक जगह आश्रय न लेते। जिस प्रकार सारे आकाश में वायु समायी रहती है, उसी प्रकार संपूर्ण जग उनका निवास स्थान था। यह विश्व ही उनका घर था अथवा वे स्थावर जंगमात्मक जग ही बन गये थे ‡।

कीर्तन पुराण द्वारा भक्ति मार्ग का प्रसार करते यह मंडली प्रवरा नदी के तीर पर नेवासा पहुँची। इसी स्थान पर ज्ञानदेव ने शके १२१२ में 'ज्ञानदेवी' अथवा 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ पूर्ण किया। यह ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर मराठी टीका है। इसी गाँव में अपने गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ज्ञानदेव ने 'अनुभवामृत' अथवा 'अमृतानुभव' नामक अपना स्वतंत्र ग्रंथ रचा।

नेवासे से यह मंडली आगे बढ़ी। आळचा † के वन में 'म्याना' नाम

---

‡ ज्ञानेश्वरी, १२।२१९–२२०। † यह गाँव पूना ज़िले में है। इस गाँव में भैंसे की समाधि की यात्रा चैत्र शुद्ध एकादशी को होती है। [नामदेव, अ. ९०८]

का भैंसा मर गया। ज्ञानदेव ने उसकी समाधि वहीं बनायी और आलंदी की राह ली।

बिसोबा खेचर

आलंदी में बिसोबा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने इन भाइयों को खूब सताया। एक दिन मुक्ताबाई मांडे करने के लिए बरतन लाने को कुम्हारवाड़े में गयी। बिसोबा ने ऐसा ठाठ रचा कि उसे कहीं बरतन न मिल सके। मुक्ता बेचारी परेशान हो कर घर आयी। उसने इस घटना का वृत्तान्त ज्ञानदेव को सुनाया। ज्ञानदेव ने उसे समझाया-बुझाया। और योग-बल से अग्नि प्रदीप्त की। मुक्ताबाई ने उनकी पीठ पर 'मांडे भून लिये'। बिसोवा नें छिप कर यह सब चमत्कार देखा और अनन्य भाव से ज्ञानदेव की शरण में आ गया। ज्ञानदेव ने उसे क्षमा कर दिया और अपना शिष्य बना लिया ‡।

चाँगदेव

तापी नदी के तीर पर 'चांगा वटेश्वर' नाम के एक महान् योगी रहते थे। वे 'चांगदेव' नाम से प्रसिद्ध थे। कहते हैं चाँगदेव चौदह सौ वर्ष तक जीवित रहे। चाँगदेव ने घोर तपस्या करके योग बल प्राप्त कर लिया था। पैठण से यात्रा के लिए निकले हुए एक ब्राह्मण ने चांगदेव से कहा, "सिद्धराज ! पैठण में एक बाल महासिद्ध ने भैंसे से वेद पढ़वाया। स्वर्ग वासी पितरों को भोजन के लिए बुलाया और भोजन के बाद फिर स्वर्ग भिजवा दिया †। हम सब ने यह आश्चर्य-

---

‡ इस घटना से सिद्ध होता है कि ज्ञानदेव स्वावलम्बी थे।

[नरहर रघुनाथ फाटक]

† म्हणेसिद्धराया नवल वर्तलें। प्रतिष्ठानी देखिलें सर्व जनीं।
म्हेषि पुत्रामुखी बोलविल्या श्रुति। येऊनियां बाळ महासिद्ध ॥
आणुनि स्वर्गवासी पितर जेंवविले। ते पुढती बोळविले निज स्थाना ॥

[निळोबा कृत अभंग]

जनक घटना अपनी आँखों से देखी है। भैंसे के मुख से वेद उच्चार कराने वाला यह पुरुष कौन है ? चाँगदेव को उसे देखने की इच्छा हुई। प्रत्यक्ष दर्शन करने के पहले पत्र भेज कर उनका समाचार लेना अच्छा है। अतः वे ज्ञानदेव को पत्र लिखने बैठे, परन्तु उनकी समझ में न आया कि पत्र का आरम्भ कैसे किया जाए। ज्ञानदेव को चिरंजीव कहें तो वे ज्ञान में बडे हैं। यदि उन्हें तीर्थस्वरूप लिखा जाए, तो आयु में वे लगभग बीस वर्ष के ही थे। चांगदेव के सामने एक बड़ा प्रश्न था। अन्त में उन्होंने ज्ञानदेव के पास कोरा काग़ज़ ही भेज दिया। चांगदेव का एक शिष्य उस काग़ज़ को ले कर ज्ञानदेव के पास आया। मुक्ताबाई ने पत्र देख कर कहा, "चौदह सौ वर्ष तपस्या करने के बाद भी चांगदेव आख़िर कोरा का कोरा ही रहा।

ज्ञानदेव ने श्रीगुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञानुसार ६५ ओवियों का एक पत्र लिखा, जिसे 'चांगदेव पासष्ठी' कहते हैं। शिष्य ने यह पत्र चांगदेव को दिया। तब चांगदेव अपनी शक्ति दिखाने के लिए ज्ञानदेव से मिलने के लिए निकले। उन्होंने अपने साथ चौदह सौ शिष्य लिए। वे सिंह पर सवार हुए, हाथ में सर्प का चाबुक लिया और अपने इतने बड़े शिष्य परिवार के साथ आलंदी पहुँचे। ज्ञानदेव उस समय अपने भाइयों सहित एक दीवार पर बैठे हुए थे। उन्होंने दीवार से कहा "चल बाई, महान् योगी चांगदेव महाराज आए हैं" यह सुन कर सचमुच दीवार चलने लगी। दीवार को चलता देख कर चांगदेव का अभिमान चूर्ण हो गया ‡। उन्होंने ज्ञानदेव को साष्टांग प्रणाम किया। उस दिन से चांगदेव, ज्ञानदेव के शिष्य बन गये।

---

‡ इस वैज्ञानिक युग में ऐसे चमत्कारों की ओर लोगों की श्रद्धा नहीं होती। अतः युक्तिवादी इन चमत्कारों की गुत्थी सुलझाने के लिए कुछ न कुछ स्पष्टीकरण ढूंढ़ ही लेते हैं।

वाघ और साँप प्राणी हैं, अतः वाघ का वाहन बनाना और साँप का चाबुक बनाना मनुष्य के लिए आसान है। निर्जीव दीवार का

ज्ञानदेव के आने के पहले ही उनकी कीर्ति आलंदी पहुँच चुकी थी। अतः आलंदी में अब पैठण के ब्राह्मणों द्वारा दिये हुए शुद्धिपत्र को वहाँ के ब्राह्मणों को दिखाने की जरूरत बाकी न थी। उनके आने के पहले से ही लोगों के झुंड के झुंड उनके दर्शन के लिए आने लगे थे।

इस प्रकार बन्धनों से मुक्त करने डूबे हुए लोगों को उबारने, दुखियों के कष्ट मिटाने में यह मंडली रात-दिन व्यस्त रहती। ज्ञानदेव के मन में तीर्थ यात्रा करने का विचार आया। वास्तव में इतने उच्च पद को पहुँचे हुए ज्ञानदेव जिनका नाम तीर्थराज है व जिनके दर्शन से चित्त—शांत होता है और भटके हुए को ब्रह्मत्व मिलता है,‡ उन्हें तीर्थयात्रा करके कौन-सी चित्तशुद्धि प्राप्त करनी थी, परन्तु उन्हें तो लोगों को मार्ग दिखाना था†।

अतः भक्तिमार्ग का प्रचार करने के लिए श्री निवृत्तिनाथ की आज्ञा ले कर वे तीर्थ यात्रा को इस हेतु निकले कि संतों के समागम से बहुत आनंद मिलेगा। मार्ग में वे अनेक साधु-सन्तों से मिले। उस समय पंढरपुर में नामदेव नाम के एक श्रद्धालु संत रहते थे। ज्ञानदेव, नामदेव को अपने साथ लेने के लिए पंढरपुर गये। सन्त ज्ञानदेव को अपने घर आये हुए देख कर नामदेव बड़े आनंदित हुए। ज्ञानदेव ने

चलाना पहले चमत्कार की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक है। इस कृति से ज्ञानदेव ने चांगदेव का घमंड चूर-चूर कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि चांगदेव की योग-सामर्थ्य के गर्व परिहार के लिए यह कथा प्रचलित हुई। इस प्रकार ज्ञानेश्वर ने चांगदेव को अपने भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट किया और यह बता दिया कि योग-साधन दुष्कर है और सामान्य जनता के उद्धार की दृष्टि से उपयोगी नहीं।

[नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर वाङमय आणि कार्य. पृ. ३२१–३२२]

‡ ज्ञानेश्वरी, ६।१०२। † [नामदेव, अ. ९१४–९१६]

भक्तशिरोमणि कह कर नामदेव को गौरवान्वित किया। दोनों की परमार्थ पर एकान्त में बातचीत हुई, फिर ज्ञानेश्वर ने नामदेव से कहा कि मेरे साथ तीर्थ यात्रा को चलो। मुझे तुम्हारे साथ रहने की इच्छा है। मेरी इच्छा को पूर्ण करो। इस पर नामदेव ने कहा, "मुझे तीर्थयात्रा की आवश्यकता नहीं है। मेरा सब सुख तो श्री विट्ठल के चरणों की सेवा में है। मुझे न परमार्थ की आवश्यकता है और न स्वार्थ की। तीनों लोकों के वैभव से मुँह मोड़ कर मैं पंढरीनाथ का भिखारी बना हूँ। यहाँ मुझे कल्पवृक्ष की छाया मिलती है और कामधेनु का दूध प्राप्त होता है। मुझे यहाँ किसी बात की कमी नहीं है, मैं काया-वाचा-कर्मणा विट्ठल का दास हूँ। इसलिए मेरे सम्बन्ध में पंढरीनाथ से आज्ञा लीजिए।" ज्ञानदेव, नामदेव का हाथ पकड कर उन्हें मंदिर में ले गये और पंढरीनाथ के चरणों में विनय की। पंढरीनाथ ने हँस कर कहा कि तुम्हारा अंतर्बाह्य हीरे के समान निर्मल है और तुम सब तीर्थों के तीर्थ हो तुम्हें यात्रा की क्या आवश्यकता? इस पर ज्ञानदेव ने निवेदन किया कि इस शरीर को सार्थक करने के लिए मैं यात्रा करना चाहता हूँ और नामदेव को भी साथ ले जाने की इच्छा है। पंढरीनाथ ज्ञानेश्वर की इच्छा को टाल न सके। उन्होंने नामदेव से कहा: "परब्रह्मरूप ज्ञानेश्वर तुम्हारा साथ चाहते हैं। यह तुम्हारे बड़े भाग्य की बात है। दोनों स्वस्तिक्षेम जाओ और अपना कल्याण करके शीघ्र वापस आओ‡।

परमप्रेमी बालभक्त नामदेव को पंढरपुर छोड़ने का बड़ा दुःख था, परन्तु नामदेव को अब राजी होना पड़ा। दोनों ही मंदिर से बाहर निकले। नामदेव को जाते हुए देख कर पंढरीनाथ को प्रेम से रोमांच हो आया। उन्होंने ज्ञानेश्वर को रोक कर कहा: "नामदेव मेरा लाडला है। वह मेरी कृपा में पला है। मैंने उसे एक क्षण के लिए भी अपने

---

‡ [नामदेव, ९१७]

से अलग नहीं किया, परन्तु तुमने मुझे बड़ी दुविधा में डाल दिया है, जिसके कारण मेरा हृदय भर आया है। नामदेव बड़ा भोला-भाला है, उसे मार्ग में सँभाल कर रखना। उसकी भूख-प्यास की चिन्ता रखना। मुझे नामदेव की बड़ी चिन्ता होती है।

पांडुरंग इन दोनों को चन्द्रभागा नदी तक पहुँचा कर वापस आए। रुक्मिणी उनके चरण धोने के लिए पानी ले कर आयीं, तो देखती क्या हैं कि पांडुरग की आँखे डबडबा रही हैं और मुख श्रम-बिन्दुओं से भींगा है। रुक्मिणी ने इसका कारण पूछा। पांडुरंग ने गद्गद कंठ से कहा, "नामदेव के वियोग से मैं संकट में पड़ गया हूँ। मेरे बिना वह अपने प्राण कैसे रखेगा? यही दारुण चिन्ता मुझे सता रही है। जब वह थका-माँदा होगा तो अपना दुःख किससे कहेगा?"

ज्ञानदेव, नामदेव दोनों ही भीमा उतर कर आगे चले। नामदेव पंढरीनाथ के वियोग में अस्वस्थ दिखाई देने लगे। ज्ञानदेव ने अनेक प्रकार से उनका समाधान किया। मार्ग में कभी ज्ञानदेव नामदेव की सगुणभक्ति को परखने के लिए अद्वैत वेदान्त की चर्चा करते, कभी योगबल से लघिमासिद्धि का अवलम्बन करके गहरे कुएँ से पानी पीते और इस प्रकार के चमत्कार दिखा कर उनको चकित करते, परन्तु नामदेव सदा कसौटी पर खरे उतरते और ज्ञानदेव उनकी अनन्य भक्ति को धन्य कह कर अनको गौरव प्रदान करते। कभी-कभी ज्ञानदेव एक जिज्ञासु की तरह नामदेव से पूछते, "भजन की विधि क्या है? इसकी साधना कैसे की जाए? सत्वशील नमन बुद्धि कैसी होती है? निराकार के ध्यान का क्या प्रकार है? श्रवण, मनन, निदिध्यास, भक्ति, धृति व विश्रांति ये क्या हैं‡? इन प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर सुन कर ज्ञानदेव प्रसन्न होते और यह कह कर नामदेव का आदर करते कि तुम पर सचमुच भगवान् की कृपा है।

---

‡ [नामदेव, अ. ९२३]।

आत्मचर्चा करते, भगवत् प्रेम का माधुर्य चखते और 'कृष्ण, विष्णु हरि गोविंद' गाते वे मार्ग तय करने लगे। 'तेर' गाँव में पहुँच कर वे संत गोरा कुंभार से मिले। उन्होंने प्रभास, द्वारकादि अनेक तीर्थों की यात्रा की। फिर काशी, प्रयाग और गया की तीर्थ यात्रा की। प्रत्येक स्थान पर भक्ति पंथ को बढ़ाया और लोगों को सन्मार्ग पर लगाया। उनके कीर्तन के घोष से प्रत्येक तीर्थ स्थान गूँज उठा। इस प्रकार बहुत दिनों का प्रवास कर बहुत से जीवों का उद्धार करके वे पंढरपुर वापस आए। पंढरीनाथ का लाडला पंढरीनाथ से मिला। नामदेव ने प्रेमपूर्वक पंढरीनाथ का आलिंगन किया।

ग्रंथ रचना

ज्ञानेश्वरी

कीर्तन पुराण द्वारा भक्तिमार्ग का प्रसार करते-करते ये लोग सदा स्थानान्तर करते रहते। ऐसे भ्रमण करते-करते वे म्हाळसापुर अथवा नेवासे में पहुँचे। वह स्थान गोदावरी से दो कोस पर प्रवरा के तीर पर बसा हुआ है। इसी गाँव में शके १२१२ में ज्ञानदेव ने अपनी आयु के उन्नीसवें वर्ष में ज्ञानेश्वरी ग्रंथ पूर्ण किया। यह ग्रथ श्रीमद्भगवद्-गीता पर मराठी टीका है, जिसका नाम 'भावार्थ दीपिका' है। इस ग्रंथ के लिखने का काम नेवासे गाँव के एक ब्राह्मण कुलकर्णी सच्चिदानंद बाबा ‡ ने किया। ज्ञानेश्वरी के अन्त में उसका उल्लेख इस प्रकार है:

त्रिलोकी में एक पवित्र पंचकोसी अनादि क्षेत्र है। यहाँ विश्व पालक श्री मोहनीराज की मूर्ति है। वहां आदिनाथ शंकर की परम्परा में उत्पन्न हुए श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को देशी भाषा मराठी से अलंकृत किया †। 'ज्ञानेश्वरी' गीता पर पहली मराठी टीका है, परन्तु यह ग्रन्थ मूल संस्कृत भगवद्गीता का केवल भाषान्तर ही नहीं है। मूल गीता में ७०० श्लोक हैं, परन्तु ज्ञानेश्वरी में ९०३३ ओवियाँ हैं। ज्ञानदेव ने इस प्रकार तेरह गुना विस्तार किया है, जिसका अधिकांश भाग स्वतंत्र है। गीता के तेरहवे अध्याय के सातवें श्लोक पर ज्ञानेश्वर ने ३२७ ओवियाँ रची हैं। इस श्लोक में 'अहिंसा' शब्द का अर्थ समझाने के लिए १२१ ओवियाँ लिखी हैं। 'आचार्योपासना' शब्द का भावार्थ स्पष्ट करने के लिए नब्बे ओवियों की रत्नमाला पिरोई है। इसके अतिरिक्त अध्याय के आरम्भ व अंत में गुरु-गौरव,

‡ [ज्ञानेश्वरी, १८।१८१०]। † [ज्ञा० १८।१८०३, १८०५]

मातृभाषा-वर्णन, विवेचन सार इत्यादि के लिए लगभग बारह सौ ओवियों की रचना की गयी है। ऐसे टीकाकार को अनुवादक कहना उनके महत्त्व को कम करना है। यह बात सत्य है कि व्यास का अनुगमन करते हुए व भाष्यकार श्री शंकराचार्य के पद चिह्नों पर चलते हुए ज्ञानेश्वर ने अपनी टीका रची ‡ परन्तु उसमें अनेक जगह उन्होंने स्वतंत्र अर्थ लगाया है। अध्यात्म के अनुभव और लौकिक काव्य प्रतिभा के बल पर ज्ञानदेव ने गीता पर इतना अद्भुत टीका-ग्रंथ रचा कि यह कहना कठिन है कि गीता से ज्ञानेश्वरी शोभा पाती है अथवा ज्ञानेश्वरी से गीता शोभा पाती है।

ज्ञानेश्वरी क्या है ? मानो कैवल्य रस के पंच पक्वान्न से भरी हुई सोने की थाली। इसमें भक्ति है, ज्ञान है, योग व स्वानुभव है, व्युत्पत्ति व साक्षात्कार है, प्रतिभा और प्रसाद है। ज्ञानेश्वरी, सरस्वती देवी का नित्य नूतन लावण्य रत्न भण्डार है। इसके पश्चात् महाराष्ट्र में छह-सात सौ वर्ष तक भक्ति का जो उद्यान फूला-फला उसका बीज ज्ञानेश्वरी थी। ज्ञानदेव ने भागवत धर्म का जो नन्हा-सा बिरवा लगाया था, वह महाराष्ट्र भर में फैल गया और आज भी चमचमा रहा है।

ज्ञानेश्वरी के सम्बन्ध में नामदेव ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है : "ज्ञानदेव मेरी और योगियों की माता हैं, जिन्होने वेदरूपी बेल ज्ञानेश्वरी को प्रकट किया जो गीता का आभूषण और ब्रह्मानंद लहरी है। उन्होंने अध्यात्म विद्या को साकार बनाया और चैतन्य का दीप प्रकाशित किया। उन्होंने छप्पन भाषाओं का गौरव बढ़ाया। संसार सागर को पार करने के लिए ज्ञानेश्वरी रूपी नाव तैयार की जो ज्ञानेश्वरी को सुनने के निमित्त कथा-स्थल पर आ कर बैठते हैं, वे सुख सम्पन्न होते हैं †।

‡ ज्ञा० १८।१७२२]   † [नामदेव, अ. ९१२]

श्री एकनाथ ने ज्ञानेश्वरी के सम्बन्ध में इस प्रकार पूज्य भाव प्रदर्शित किया है : "जो भावपूर्वक ज्ञानेश्वरी को पढ़ता है, श्रीकृष्ण उस पर कृपा करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने जो गीता अपने श्री मुख से अर्जुन को सुनाई वही ज्ञानेश्वरी है, जिसके पढ़ने से कलिकाल का भय नाश होता है। जनार्दन शिष्य एकनाथ महाराज कहते हैं कि सब संशय छोड़ कर मन में ज्ञानेश्वरी को दृढ धारण करो ‡।"

जनाबाई ने माता ज्ञानेश्वरी पर दो फूल चढ़ाए हैं :

माता ज्ञानेश्वरी सन्तों की माहेश्वरी, भक्ति और ज्ञान की सुन्दर मंजूषा है † ।

ज्ञानेश्वरी के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक और डा. रा. द. रानडे के उद्गार भी उल्लेखनीय है :

महाराष्ट्र के साधु-संतों के संप्रदाय में गीता पर मराठी का उत्तम ग्रंथ ज्ञानेश्वरी है। गीता के अर्थ को अनेक सरस दृष्टान्तों से सजा कर कहने की ज्ञानेश्वर महाराज की शैली अलौकिक है। श्री शंकराचार्य की अपेक्षा ज्ञानदेव की यह विशेषतः है कि उन्होंने भक्ति-मार्ग और किसी अंश तक निष्काम कर्म का समर्थन किया। अतः ज्ञानेश्वरी को गीता पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रंथ मानना चाहिए $।

अनुभव, काव्य और तत्वज्ञान—इन तीनों की दृष्टि से मराठी भाषा में ज्ञानेश्वरी जैसा अनुपम ग्रंथ आज तक तैयार नहीं हुआ है। यद्यपि ज्ञानेश्वरी गीता पर एक टीका है तथापि वह स्वतंत्र ग्रंथ है और इस नाते से इसका मूल्य बहुत है। उपमा, भाषा-सौन्दर्य, तत्वज्ञान, साक्षात्कार, भक्ति और अद्वैत का अपूर्व संगम, अलौकिक निरीक्षण-शक्ति, अप्रतिहत कवित्व-शैली, अप्रतिम मधुर वाङमय—

‡ एकनाथ : अभंग † [जनाबाई, अ. २६७] $ तिलक : गीता रहस्य।

इन सब गुणों के सम्मिश्रण से यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ऐसा ग्रंथ "न भूतो न भविष्यति ‡ ।"

ज्ञानदेव ने गीता की रमणीयता का जो वर्णन किया है, वह उनके ग्रंथ पर भी लागू होता है । गीता का महत्त्व इतना है कि स्वतः शंकर उसकी चर्चा करने लगे तो पार्वती को चमत्कार मालूम हुआ और उन्होंने शंकर से प्रश्न किया । शंकर ने कहा, "हे पार्वती ! जिस प्रकार तुम्हारे नित नूतन शरीर का कोई पता नहीं चला सकता उसी प्रकार गीता तत्त्व नित नूतन है; इसलिए उसको भी जाना नहीं जा सकता † ।

ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी की रचना ओवी छन्द में की है और वह भी साढ़े तीन चरणों की ओवी में; परन्तु उसमें ऐसा प्राण फूंका कि वह सजीव हो गयी और महाराष्ट्र के घर-घर में डोलने लगी, स्त्री बालकों से बोलने लगी, माली कुंभार और लोहारों की जीभ पर खेलने लगी । पुर और चक्की पर गायी जाने लगी । गत सात सौ वर्षो से यह मराठी-भक्तों की प्राण बन गयी । लाखों बारकरी ज्ञानेश्वरी को माता कह कर पूजते हैं । ज्ञानेश्वरी की ओवी बिना पढ़े सोते ही नहीं । लाखों महाराष्ट्रियों का यह नित्य नियम है । ज्ञानेश्वरी काल के प्रवाह में पड़ कर पाठभेद से दुर्बोध और कहीं-कहीं अशुद्ध हो गयी थी । जिसे ३०० वर्ष के पश्चात् एकनाथ ने शके १५०६ में शुद्ध किया $ ।

सन्त लेखक ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में अपना हेतु भी प्रकट कर देते हैं । कुछ सन्त तो 'स्वान्तः सुखाय' अपनी रचना करते हैं, और

‡ **डा. रा. द. रानडे** : ज्ञानेश्वर वचनामृत । श्री ज्ञानेश्वर दर्शन : भाग १; दर्शन प्रवेश, पृ. २०३ । † ज्ञानेश्वरी, १।७०–७१ ।
$ R. D. Ranade. Mystieism in Maharashtra Page 37.

कुछ स्पष्ट ध्येय के लिए अपनी रचना करते हैं। तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ के आदि में ही बता दिया है कि उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' लिखी है; परन्तु ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के अन्त में ग्रन्थ निरूपण का ध्येय दूसरा ही बताया है।

कलियुग ने सब प्राणियो को पीड़ित कर रखा है—यह देख कर गहिनीनाथ ने श्री निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि तुम दुःखित प्राणियों को दुःख से मुक्त करो ‡। निवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव को निमित्त मात्र बना कर आगे किया और ज्ञानेश्वरी की रचना से संसार का संरक्षण किया †।

न. र. फाटक 'कलियुग' का अर्थ 'ज्ञानेश्वर कालीन युग'—ऐसा मानते हैं। वे कहते है : "कलियुग का आरम्भ पुराणानुसार ईसवी सन् से कई शती पूर्व हुआ है। ज्ञानेश्वेर-काल में कलियुग का प्रभाव मनुष्यों को पीड़ित कर रहा है—गहिनीनाथ की इस भावना का अर्थ पुराणों के आधार से नही किया जा सकता। इसका अर्थ लगाने के लिए ज्ञानेश्वर कालीन परिस्थिति की ओर ध्यान देना होगा।" ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ का समापन करते हुए ईश्वर से जो (पसायदान) वरदान माँगा है, उसमें 'दुष्टो का वक्र स्वभाव नष्ट होवे और उनमें सत्कम की रुचि बढ़े। सब प्राणिमात्र में मैत्री की भावना बढ़े। पाप तिमिर नाश को प्राप्त होवे और सारे विश्व पर स्वधर्म सूर्य का प्रकाश पड़े'—ये वाक्य ज्ञानेश्वर कालीन परिस्थिति की सूचना देते है और उपरोक्त कथन की पुष्टि करते है।

कुछ महानुभाव पंथियों का मत है कि ज्ञानेश्वर ने अपनी 'ज्ञानेश्वरी' महानुभाव मत के प्रभाव को नष्ट करने के लिए लिखी। इस प्रतिपादन का उद्देश्य यह था कि 'येनकेन प्रकारेण' इस बात के

‡ ज्ञानेश्वरी, अध्याय १८।१७६० १७६६। † नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर वाङमय आणि कार्य, पृ. ४७।

दिखाने का प्रयत्न किया जाए कि महानुभाव पंथ एक श्रेष्ठ पंथ था। प्रति पक्ष की प्रतिष्ठा के लिए क्षण-भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि ज्ञानेश्वरी महानुभाव पंथ के तत्त्व ज्ञान को नष्ट करने के लिए रची गयी, तो इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञानेश्वरी की रचना के कारण महानुभाव पंथ का प्रभुत्व घट गया। इससे ज्ञानेश्वरी की श्रेष्ठता एवं महानुभाव पंथ के तत्त्वज्ञान की दुर्बलता सिद्ध होती है ‡।

तत्त्वतः धार्मिक और सामाजिक अधोगति का अनुभव करके मनुष्यों की भ्रांति बुद्धि को स्थैर्य देने के लिए एवं मनुष्यों को कर्तृत्व-क्षम बनाने के लिए ज्ञानेश्वर ने गीता पर टीका लिखी †।

अभंग :

तीर्थयात्रा करते-करते ज्ञानदेव ने लगभग एक हज़ार अभंग रचे। ज्ञानदेव ने नामदेवादि सन्तों के साथ में द्वारका इत्यादि तीर्थों की यात्रा की। तीर्थाटन का एक हेतु यह था कि सत्संग प्राप्त हो और स्थान-स्थान के देवों के दर्शन का लाभ हो, परन्तु इसके साथ-साथ दूसरा हेतु यह भी था कि समाज की स्थिति देख कर समाज को नीति-धर्म का उपदेश दिया जाए। ज्ञानदेवादि संत जहाँ जाते कीर्तन करते और अपने-अपने अभंग सुनाते थे। ये अभंग आज भी महाराष्ट्र में बारकरी सम्प्रदाय के लाखों भक्तों की वाणी के विलास बने हुए हैं।

ज्ञानेश्वरी में तत्त्वज्ञान पर ज़ोर दिया गया है, परन्तु अभंगों में भक्ति पर ज़ोर दिया गया है। अभंग क्या हैं मानो जन-मनों में विठ्ठल की सगुण भक्ति का अंकुर उगाने के लिए पानी की लहरें हैं। ज्ञानदेव सर्व सामान्य मुमुक्ष जनों को यह उपदेश देते है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए कलियुग में भजन के समान अन्य कोई साधन नहीं है।

---

‡ नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर बाङ्मय आणि कार्य, पृ. ४१। † वही पृ. ४६।

हरि-भक्ति बिना मानवी जीवन व्यर्थ है। गाँव के भोले-भाले दीन, निरक्षर लोगों को यह बात समझाने के लिए वे बहुत से दृष्टांत देते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार सिर के कट जाने से सारा शरीर मृत हो जाता है। पानी के समाप्त होने पर नदी भयंकर दिखाई देती है, और चन्द्र व सूर्य के बिना आकाश भयावना दिखाई देता है, उसी प्रकार बिना हरिभक्ति के जीवन सूना व असार है। ज्ञानदेव ज्ञानी-भक्त थे। उनका मन पांडुरंग के ध्यान में रँगा हुआ था, उन्होंने अपना मनोभाव और अपनी व्यग्रता को यों व्यक्त किया है :

"सब सुखों और आनंद का भंडार पांडुरंग के चरणों में है। मैं सारे संसार को सुखी कर तीनों लोकों को आनन्द से भर दूँगा, पंढरीनाथ के दर्शन से सब सुकृतों का फल प्राप्त कर रुक्मिणी देवी के पति श्री विठ्ठल के दर्शन से मैं विठ्ठल-स्वरूप में तल्लीन हो जाऊँगा।"

प्रभु के दर्शन के लिए भक्त कितना विह्वल होता है—इसकी कल्पना संसारी मनुष्यों को देने के लिए नाना सन्तों ने 'विरहिणी' के अभंग रचे है। ज्ञानदेव ने भी ऐसे अभंग रचे हैं।

ज्ञानदेव के अभंगों की डाल-डाल पर भाव-भक्ति के फूल लगे हुए हैं। परन्तु अद्वैत तत्त्वज्ञान और निर्गुण भक्ति के फल भी बीच-बीच में लटकते हुए दिखाई देते हैं। वे कहते हैं :

"तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। इस एकता-प्राप्त होने के पश्चात् दूसरापन कैसे ? तुम्हारा स्वरूप मेरा स्वरूप है और मेरा स्वरूप तुम्हारा स्वरूप है, परन्तु अज्ञान के कारण जीव इस तत्त्व को नहीं समझता है। जो ब्रह्म निर्गुण था, उसने सगुण रूप धारण किया। अज्ञान का आवरण हट जाने के पश्चात् दोनों एक ही हो जाते हैं, जिस प्रकार समुद्र में नमक का पुतला घुल जाता है, उसी प्रकार देव में भक्त समरस हो जाता है। आराध्य देव की पूजा करते-करते भक्त-स्वयं ही देव बन जाता है।

करते हैं, परन्तु नाम स्मरण सब साधनों से सरल व श्रेष्ठ है। योगियों को जो आत्मानंद होता है वही आनंद, वैष्णवों को भगवन्नामोच्चार में प्राप्त होता है।

चांगदेव पासष्ठी :

चांगदेव पासष्ठी में अद्वैत ज्ञान का प्रतिपादन है। अनादि काल से आर्यावर्त में अद्वैत ज्ञान का तेजस्वी प्रवाह अनावरत चालू रहा है। श्री ज्ञानदेव ने परम्परागत इसी अद्वैत ज्ञान का उपदेश हठयोगी चांगदेव को देने के लिए पैंसठ ओवियाँ लिखी हैं। ये पैंसठ ओवियाँ क्या हैं, मानो अद्वैत सिद्धान्त के सूत्र ही हैं। ज्ञानदेव कहते हैं : "जो इन ओवियों को दर्पण बनाएगा अर्थात् इनके द्वारा आत्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न करेगा, उसे ब्रह्म-सुख का लाभ होगा ‡।

अमृतानुभव :

कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ समाप्त होने पर निवृत्तिनाथ ने अपने छोटे भाई और शिष्य ज्ञानदेव से कहा, "ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ उत्तम तैयार हुआ है और वह दूसरे ग्रन्थ का दर्शक है। अब मुकुन्दराज के "विवेक सिन्धु" की तरह स्वतंत्र ग्रन्थ निर्माण करके अपनी बुद्धि की प्रतिभा प्रकट करो।" इस आज्ञा को शिरोधार्य कर ज्ञानदेव ने 'अमृतानुभव' ग्रन्थ रचा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ शके १२१२ और १२१८ के दरम्यान लिखा गया। 'अमृतानुभव' उनकी बुद्धि का स्वतंत्र उत्कर्ष है। इसका कलेवर बहुत छोटा है, परन्तु गुण की दृष्टि से अत्यन्त विशाल है। यह ग्रन्थ ज्ञानदेव की कुशाग्र बुद्धि का विलास मालूम होता है। अपनी भाषा में, 'मैं अरूप को रूप दिखाऊँगा'—यह प्रतिज्ञा अमृतानुभव में उत्कृष्ट सिद्धि को पहुँची है। 'जहाँ वाणी और मन की पहुँच नहीं'—ऐसे स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया गया है। तर्क

‡ तियेपरी जो इया। दर्पण करील ओविया।
तो आत्मा एवढिया। मिळेल सुखा॥ [चांगदेव पासष्ठी]

शास्त्र के अत्यन्त कठिन सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है। जिस प्रकार बद्रीनाथ की यात्रा को यदि हज़ार यात्री जाते हैं, तो उनमें से केवल सौ मनुष्य गंगोत्री को जाते हैं, उसी प्रकार यदि हज़ार वाचक ज्ञानेश्वरी पढ़ते है, तो उनमें से सौ भी अमृतानुभव की ओर आकर्षित नहीं होते। 'अमृतानुभव' ग्रन्थ मराठी वाङमय का अमोल रत्न है। मराठी के तत्त्वज्ञान विषयक विभाग में ज्ञानेश्वर ने अत्यन्त आश्चर्यकारक संपन्नता भर दी है और उनकी एक-एक ओवी हीरा की खान की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है।

इस प्रकार ज्ञानदेव का यह अलौकिक ग्रन्थ मराठी वाङमय के रत्न भण्डार का कोहिनूर है, परन्तु यह कहना भी उपयुक्त नहीं, कारण कि कोहिनूर कितना ही मूल्यवान हो फिर भी निर्जीव है। अतः यों कहना चाहिए कि अमृतानुभव समान अमृतानुभव ही है। इस ग्रन्थ ने मराठी वाङमय को एक उच्च आसन पर बिठा दिया है। यदि ज्ञानेश्वरी को मराठी वाङमय का हिमालय पर्वत समझा जाए तो 'अमृतानुभव' हिमालय का अति उच्च गौरीशंकर शिखर है ‡।

अनुभवामृत के सम्बन्ध में ज्ञानदेव का आत्मविश्वास है कि यह 'अनुभव का अमृत' श्रीमन्त है। इसका सेवन कर सब मनुष्य जीवन्मुक्त होवें—

---

‡ ह. भ. प. प्रा. दांडेकर के मतानुसार 'ज्ञानेश्वरी' ज्ञानदेव का पहला ग्रंथ है और 'नमन' आख़िरी ग्रंथ है। बाक़ी के ग्रंथ इन दोनों के बीच में रचे गये हैं। 'चांगदेव पासष्ठी', 'अमृतानुभव' के बाद की रचना है। उसके बाद 'योग वासिष्ठ' रचा गया। यह कहना कठिन है कि अभंग और हरिपाठ कब रचे गये। योगवासिष्ठ पर ज्ञानदेव ने टीका लिखी है—यह सच है; परन्तु योगवासिष्ठ की जो प्रति आज पायी जाती हैं, वह ज्ञानदेव रचित नहीं है—यह निर्विवाद है।

ज्ञानदेव म्हणे श्रीमंत । हे अनुभवामृत ।
सेवूनि जीवन्मुक्त । हेचि हेतु‡ ॥

ऐसा ज्ञानदेव का निश्चित आदेश है। अनुभवामृत और सुप्रसिद्ध 'स्वर्ग के अमृत' में भेद बताते हुए ज्ञानदेव कहते हैं कि 'देवताओं के अमृत' की अपेक्षा इस लोक के 'मर्त्य मानवों का अनुभवामृत' अधिक श्रेष्ठ है, कारण कि 'अनुभवामृत' मोक्ष है और 'देवताओं का अमृत' मोक्ष नहीं है। देवताओं के 'अमृत' को हतप्रभ करने वाला और हीन ठहराने वाला—यह 'अनुभवामृत' है। 'अनुभवामृत' का माधुर्य देख कर देव-लोक के अमृत के मुख से लार टपकती है अर्थात् 'अमृत' भी 'अनुभवामृत' के अनुभव के लिए ललचाता है। 'अमृत' यज्ञादि कर्मों के करने का फल है और नश्वर कोटि का है। उसे स्वर्ग और काल का बन्धन है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशंति'। 'अनुभवामृत' इन दोषों से अलिप्त है। इस व्याख्या का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए ज्ञानेश्वर ने सूर्य का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार सूर्य के सामने चन्द्रमा की प्रभा मन्द हो जाती है, उसी प्रकार अनुभवामृत के सामने 'अमृत' हतप्रभ हो जाता है।

ऐसीं इयें निरुपाधिकें । जगाचीं जिथें जनकें ।
तिथें वंदिली मियां मूळिके । देवो देवी ॥

अमृतानुभव प्र. १।१

---

‡ अनुभवामृत : १।९१। नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, पृ. २९५।

गुरु सम्प्रदाय

तेथ महेशान्वय संभूतें । श्री निवृत्तिनाथ सुतें ।
केलें ज्ञानदेवें गीते । देशीकार लेणें ‡ ॥
जे तान्हेनि मियां अपत्यें । आणि माझे गुरु एकलौते ।
म्हणोनि कृपेसि एक होतें । जालें तिये † ॥

उपरोक्त दो ओवियों का भावार्थ यह है कि "श्री निवृत्तिनाथ की परम्परा श्री शंकर से आरंभ होती है। श्री निवृत्तिनाथ के सुत श्री ज्ञानदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता को मराठी भाषा का अलंकार बनाया है। मैं श्री निवृत्तिनाथ का छोटा बालक हूं और अपने गुरु का इकलौता बालक होने के कारण मैं अकेला ही उनकी कृपा का पात्र बन सका।" इस प्रकार स्वयं ज्ञानदेव ने यह उल्लेख किया है कि मैं निवृत्तिनाथ का पुत्र हूँ। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि ज्ञानेश्वरी रचयिता ज्ञानदेव के पिता का नाम निवृत्तिनाथ है और अभंग रचयिता ज्ञानदेव के पिता का नाम विट्ठल पंत है। रा. भारद्वाज ने यह कल्पना प्रस्तुत की थी कि अभंगकार ज्ञानेश्वर, ज्ञानेश्वरीकार ज्ञानेश्वर से भिन्न हैं। उस समय रा. भिंगारकर ने न्यायमूर्ति रानडे आदि की सहायता से रा. भारद्वाज के मत का सप्रमाण खंडन किया। रा. भारद्वाज के मतानुसार :

(१) ज्ञानेश्वरीकार ज्ञानेश्वर आपेगाँव के निवासी थे। वे शैव थे। अभंगकर्ता ज्ञानदेव आलंदी के निवासी थे। ये विट्ठलभक्त थे।

(२) आपेगाँव में दो समाधियाँ दिखाई देती हैं। एक ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पंत की मानी जाती है, और दूसरी समाधि

---

‡ ज्ञानेश्वरी, अ. १८।१८०५। † वही, अ. १५।१९

ज्ञानेश्वर की है। ज्ञानेश्वर की समाधि का उत्सव कार्तिक बदी १२-१३ को होता है। आपेगाँव के कुलकर्णी के खातों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानेश्वर की समाधि के लिए कुछ ज़मीन माफ़ी में दी गयी है।

(३) अभंग और ज्ञानेश्वरी की भाषा इतनी भिन्न है कि इन दोनों का रचयिता एक नही हो सकता।

उपरिनिर्दिष्ट तर्क का उत्तर नीचे दिया जाता है :

(१) आपेगाँव के ज्ञानदेव यदि शैव होते तो आपेगाँव की समाधि के पीछे विट्ठल रुक्मिणी की मूर्ति क्यों है ? और आलंदी के ज्ञानेश्वर रा. भारद्वाज के मतानुसार विट्ठल भक्त होते तो वे सिद्धेश्वर के सामने समाधि क्यों लेते ?

इसका स्पष्टीकरण यह है कि ज्ञानेश्वरी रचयिता व अभंग-कर्ता एक ही हैं। अतः शिव व विट्ठल इन दोनों में वे भेद-भाव न रखते थे। यद्यपि ज्ञानेश्वरी में विट्ठल शब्द नहीं आया तथापि ज्ञानेश्वरीकर्ता ज्ञानदेव की विट्ठल भक्ति का परिचय मिलता है। उसी प्रकार अभंगों में केवल विट्ठल भक्ति ही नहीं है वरन् त्रिभुवन व्यापी शिवलिंग की भक्ति का भी वर्णन है।

(२) आपेगाँव में जिस समाधि का कार्तिक बदी १२-१३ को उत्सव होता है, वह ज्ञानेश्वर की मूल समाधि नही है, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि यह ज्ञानेश्वर के नाम पर बनायी गयी है। इस प्रकार की ज्ञानेश्वर की समाधियाँ नानज, पुसेसावळी आदि स्थानों पर भी है। सतों को मान देने की इच्छा से किवा उनकी स्मृति के लिए अथवा भक्ति बढ़ाने की इच्छा से उनकी समाधियाँ एक से अधिक स्थानों पर बनायी जाती हैं। इस समाधि का उत्सव करने के लिए आपेगाँव की कुछ जमीन माफ़ी में दी गयी है।

(३) अभंग की भाषा ज्ञानेश्वरी से भिन्न है। इसका उत्तर यह है कि अभंग की भाषा लोगों के मुख से चलती-चलती ज्ञानेश्वरी की

भाषा की अपेक्षा कुछ आधुनिक दिखाई देती है, इसमें संशय नही है। ज्ञानेश्वरी अध्ययन का ग्रंथ है और अभंग पाठ करने के है। अभंगों के व्याकरण के रूप ज्ञानेश्वरी के अनुसार नही हैं, इसका भी यही कारण है। बहुत से मूल शब्द जो ज्ञानेश्वरी में आते है वे ही अभंगों में दिखाई देते है। उदाहरणार्थ : "साइखेडिया, बिक, पातेजोनि, नीचनवा, बरवंट, बुथी, गळाला, संवसाटी, खडाणी, सितरणें, वाडेंकोडें, पारिखें" इसी प्रकार के बहुत-से शब्द ज्ञानेश्वरी और अभंग दोनों में समान रूप से उपयोग में आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानेश्वरी और अभंगों का शब्द भण्डार एक ही है।

(४) उपरिनिर्दिष्ट तीन कारणों के अतिरिक्त एक बलिष्ट कारण यह भी है कि ज्ञानेश्वरी व अभग किंवा अनुभवामृत और अभंग—इनका विचार भण्डार एक ही है। अत: निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जिस लेखनी ने ज्ञानेश्वरी और अनुभवामृत लिखे हैं, उसी की कृति अभंग है।

अब यदि निवृत्तिनाथसुत के 'सुत' शब्द का अर्थ पुत्र ही लिया जाए, तो इसके उत्तर में एकनाथी भागवत की कुछ ओवियाँ उद्धृत की जाती हैं। जिनमें बताया गया है कि "पिता पाँच प्रकार के होते हैं, पहला बालक को उत्पन्न करने वाला, दूसरा यज्ञोपवीत करने वाला, तीसरा अन्नदान से पालने वाला, चौथा जो भय से छुड़ाता है अथवा बंधन से मुक्त करता है, और इन सबसे पृथक पाँचवाँ पिता है जो पंचभूतों को पवित्र करके मृत्यु से छुड़ाता है और पुनर्जन्म से छुटकारा दिला कर गर्भ-व्यथा का निवारण करता है।

उपजलिया बाळकासी तत्त्वता। पंचविध जाण पिता।
जनिता आणि उपनेता। तिजा प्रतिपाळिता अन्नदानें॥
जो भयापासोनि सोडविता। जो बंध विमोचन करावेता।

या वेगळा पाँचवाँ पिता । जो झाडणी करी पंचभूतां ॥
मृत्यु पासून सोडविता । जो गर्भ व्यथा निवारी ॥ ‡

मनुस्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान देने वाला पिता, जन्म देने वाले और यज्ञोपवीत देने वाले पिता से बड़ा होता है † । अतः यहाँ 'सुत' शब्द का अर्थ इसी भाव में लेना चाहिए । सम्प्रदायविद् गुरु से दीक्षा ग्रहण करने को अपना नया जन्म समझते हैं और गुरु को पिता मान कर उनका उल्लेख करते हैं । अस्तु 'निवृत्तिनाथ सुत' से 'निवृत्तिनाथ शिष्य' का बोध होता है । इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि निवृत्तिनाथ ज्ञानदेव के गुरु थे । और इनका सम्बन्ध 'महेशान्वय संभूते' नाथ सम्प्रदाय से है ।

नाथ पंथ से ज्ञानदेव का सम्बन्ध तीन पीढ़ियों से है । ज्ञानदेव के प्रपितामह त्र्यंबक पत की गोरक्षनाथ से भेंट हुई थी, और गोरक्षनाथ ने इन्हें उपदेश दे कर अनुगृहीत किया । त्र्यंबक पंत के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र गोविंद पंत, और नीराबाई दोनों को गहिनीनाथ ने उपदेश दिया था । विट्ठल पंत इसी दम्पती के पुत्र थे, जो हमारे चरित्र नायक श्री ज्ञानदेव के पिता थे । विट्ठल पंत की हद तक यह नहीं कहा जा सकता है कि इन्हें नाथ पंथ में दीक्षा मिली थी कि नहीं । इनके सम्बन्ध में केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त है कि वे एक श्रीपाद से अनुगृहीत हुए थे । जिनका नाम नृसिंहाश्रम था । ये नाथ पंथी थे अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय से उनका सम्बन्ध है—इस विषय में बहुत कुछ ज्ञातव्य है । हाँ, विट्ठल पंत के

---

‡ एकनाथ भागवत : १३।८१–८३ ।

† **उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।**
ब्रह्म जन्महि विप्रस्यप्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥
(मनुस्मृति, अ–२ श्लो. १४६)

बाद श्री निवृत्तिनाथ से फिर नाथ पंथ के सम्बन्ध का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार गोविंद पंत और उनके पौत्र निवृत्तिनाथ दोनों ही गहिनीनाथ से अनुगृहीत हुए थे।

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानदेव ने अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन इस प्रकार किया है :

क्षीरसागर के तीर पर पार्वती के कान में श्रीशंकर ने जो ज्ञान कहा वह क्षीरसागर में रहने वाली एक मछली के पेट में गुप्त रूप से रहने वाले मत्स्येन्द्र नाथ को प्राप्त हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ घूमते-घूमते सप्तशृंगी पर आए। वहाँ भग्न अवयव चौरंगीनाथ की इनसे भेंट हुई। मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शन से चौरंगीनाथ पूर्ण अवयव हो गये। अचल समाधि लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने अपना ऐश्वर्य गोरक्षनाथ को दिया। मत्स्येन्द्रनाथ ने योगरूप कमलिनी धारण करने वाले सरोवर व विषय विध्वंस करने वाले प्रसिद्ध गोरक्षनाथ को अपने योगेश्वर पद पर बिठा कर राज्याभिषेक किया। इसके पश्चात् श्री शंकर से आरंभ हो कर परम्परा से आए हुए अद्वयानंद सुख को गहिनीनाथ ने गोरक्षनाथ से संपूर्ण प्राप्त किया। फिर यह देख कर कि कलि ने सब भूतों को ग्रसित कर लिया है, गहिनीनाथ ने श्री निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदि गुरु शंकर से शिष्य परम्परा में जो यह ज्ञान का ऐश्वर्य हमारे कुल में प्राप्त हुआ है, उसे ले कर तुम कलि से पीड़ित मनुष्यों को दुःख से मुक्त करो‡।

ज्ञानदेव कहते हैं : मेघों को वर्षाकाल का योग मिला तो जोर की वृष्टि होती है; उसी प्रकार स्वभाव से ही कृपालु निवृत्तिनाथ को जब गुरु आज्ञा मिली तो ज्ञानेश्वरी रूपी शांत रस की वृष्टि हुई। इस वृष्टि के होने पर मैं चातक की भाँति अपनी उत्कट इच्छा से आ कर आगे खड़ा हुआ और इसीलिए मुझे इतना यश प्राप्त हुआ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी, अ. १८।१७५९।

तात्पर्य यह है कि निवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव को उपदेश दिया। और ज्ञानदेव ने अपने छोटे भाई सोपानदेव व बहन मुक्ताबाई को उपदेश दिया। ज्ञानदेवादि चार भाई बहन पर्यन्त नाथ संप्रदाय की यह संक्षिप्त परम्परा है‡।

ज्ञानदेव को अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथ से नाथ संप्रदाय प्राप्त हुआ और अपने जनक विट्ठल पंत से वारकरी संप्रदाय। ज्ञानदेव के अभंगों में भी इसका प्रमाण मिलता है कि ज्ञानदेव नाथ पंथी थे। "जगामाजी श्रेष्ठ संप्रदाय नाना"—

जग में श्रेष्ठ संप्रदाय के अनेक पंथ हैं और उनका प्रचार भी है। मैं नाथ पंथ में अत्यंत नीच हूँ। मैं सबको नमस्कार करता हूँ। मुझमें सचमुच कोई महत्ता नहीं, पाप-पुण्य का स्वरूप मेरी समझ में नहीं आता, मैं निवृत्तिनाथ की शरण में पहुँचा हूँ। इस साधन के अतिरिक्त मेरे पास दूसरा साधन नहीं। मैं उनसे पृथक् नहीं, अथवा मैं तद्रूप हो गया हूँ।

श्री नागेश वासुदेव गुणाजी ने 'श्री ज्ञानदेव के सच्चे गुरु कौन† ? इस शीर्षक में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञानदेव के आदय गुरु उनके पिता, विट्ठलपंत ही थे। यद्यपि ज्ञानेश्वरी में ज्ञानदेव ने अपने बडे भाई और गुरु निवृत्तिनाथ का गौरव पूर्ण उल्लेख किया है, तथापि अभंगों में 'बाप रखुमादेवीवरु विट्ठल' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि विट्ठल पंत ज्ञानदेव के गुरु थे। नाथ पंथ में प्रवेश होने के पूर्व ज्ञानदेव पूर्ण योगी और शास्त्र पारंगत हो गये थे। नाथ पंथ के प्रभाव से वे योगेश्वर और पूर्ण तज्ञ बन गये। इस बात का समर्थन 'आपटे' ने भी किया है। उन्होंने ज्ञानदेव गाथा के अभंगों का वर्गीकरण इसी आधार पर किया है : (१) श्री सद्गुरु श्री निवृत्ति

---

‡ वही, अ. १८।१७६२–१७६३। † देखिए—श्री ज्ञानेश्वर दर्शन भाग १ : दर्शन प्रवेश, पृ. १५८-१६७।

प्रसाद से प्राप्त हुई स्थिति‡ (२) श्री विट्ठल प्रसाद से प्राप्त हुई स्थिति।

इसमें संदेह नहीं कि ज्ञानदेव को निवृत्तिनाथ से नाथ पंथी ज्ञानदीक्षा मिली थी, तथापि निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव दोनों के सच्चे आद्य 'गुरु बाप रखुमादेवीवरु विट्ठल'† ही थे।

"जिस नाथ पंथ ने विपत्ति-काल में अनाथ, असहाय और समाज बहिष्कृत चारों बालकों का सहानुभूति पूर्वक संरक्षण किया और नाथ पंथी दीक्षा भी दी उसका स्पष्ट गौरव और प्रेम पूर्वक उल्लेख करने के लिए ज्ञानदेव ने विनय, सौजन्य, रसिकता, चातुर्य इत्यादि सद्गुणों का प्रदर्शन किया एवं स्वजन परित्यक्त, जाति-च्युत और उपहासित अपने पितदेव—" 'बाप रखुमादेवीवरु विट्ठल' के नाम को गौणत्व प्रदान किया—ऐसा मेरा मत है।

कुछ भी हो यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि विट्ठल पंत ने अपने पुत्रों को शास्त्रवेत्ता बनाने के लिए अनेक आध्यात्मिक और धार्मिक ग्रंथों का अभ्यास कराया था। इस नाते से उन्हें ज्ञानदेव का आद्य गुरु माना जाए, तो कोई हर्ज़ की बात नहीं, क्योंकि माता-पिता ही बालक के सच्चे गुरु होते है। परन्तु ज्ञानदेव ने अपने अभंगों में बड़ी कला से अपने पिता रुक्मिणी देवी के पति विट्ठल ही का उल्लेख किया है।

[श्री ज्ञानेश्वर दर्शन भाग १ : दर्शन प्रवेश, पृ. १६१]

---

‡ **इया संतवाक्यासरिसें। म्हणितलें निवृत्तिदासें।**
जो अवधारातरी ऐसें। बोलिलें देवें॥

ज्ञानेश्वरी १३।८६०।

† कुछ विद्वानों का मत है कि 'बाप' का अर्थ लोक-पिता और 'रखुमादेवीवरु विट्ठल' का अर्थ रुक्मिणी देवी के पति 'श्रीकृष्ण' से है।

समाधि

एक दिन ज्ञानदेव ने पंढरीनाथ से कहा, "हे देव, इस लोक का मेरा कार्य अब समाप्त हो चुका है। मैं आपके चरणों में समाधि लेना चाहता हूँ। पंढरीनाथ ने उनकी पीठ पर हाथ फेरा और कहा, "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम आलंदी जा कर अजान वृक्ष के नीचे समाधि लो। मैं प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष में तुमसे मिलता रहूँगा। कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को पंढरपुर में बड़ी यात्रा भरेगी और कृष्ण पक्ष में संत और भक्तो की भीड़ तुम्हारे दर्शन के लिए आएगी‡।

ज्ञानदेव ने वैकुण्ठ की सीढ़ी लगायी है। वे समाधि लगाने वाले हैं। यह बात हवा की तरह गाँव-गाँव में फैल गयी। गाँव-गाँव के संत—विसोबा खेचर, चोखामेला, जनाबाई, गोराकुंभार और सावंता माली—उनके आखरी दर्शन के लिए आलंदी आए। बाजे बजने लगे, घंटा व शंख की ध्वनि से सारा प्रदेश गूंज उठा। इन्द्रायणी के दोनों किनारों पर पताकाओं का जमघट दिखाई देने लगा। पीली, हरी और भगवा झंडियों से सारा आकाश दीप्त हो उठा। उसे देख कर ऐसा मालूम हुआ कि सारा जंगल जगमगा रहा है और उस पर बिजली कौंध रही है।

कार्तिक कृष्ण १३ निर्याण का मुहूर्त निश्चित किया गया। पांडुरंग ने चक्रतीर्थ पर ज्ञानेश्वर को स्नान कराया, फिर ज्ञानेश्वर ने विट्ठल व रुक्मिणी की पूजा की। ज्ञानदेव तीर्थ की प्रदक्षिणा के लिए निकले। एकादशी की रात को सन्तों ने जागरण किया। नामदेव ने कीर्तन किया। दूसरे दिन ज्ञानेश्वर ने सिद्धेश्वर की पूजा करके समाधि के

‡ नामदेव, अ. ९७६। ५-६।

लिए उनके निकट ही स्थान माँग लिया। समाधि-स्थान खोद कर तैयार किया गया। द्वादशी के दिन पारणें हुए।

विट्ठल ने अपने हाथ से ज्ञानेश्वर के शरीर पर चन्दन का लेप किया। नामदेव ने एक मोटी तुलसी की माला उन्हें पहनायी, रुक्मिणी ने गंध-अक्षत के साथ पंचारती की और उनके स्वरूप को देख कर आँखें तृप्त कीं। ज्ञानदेव की आँखें खुली थीं, परन्तु उनकी दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी थी। पंगत बैठने पर नामदेव ने घी परोसा और सबसे भोजन के लिए आग्रह किया। ज्ञानेश्वर भूखे न थे। परन्तु उन्होंने विट्ठल और रुक्मिणी के समाधान के लिए भोजन किया। हाथ धुलाने के बाद गोदा महादा ने बीड़े बाँटे। तीसरे प्रहर फिर कीर्तन हुआ। इस पर साक्षात् गोविंद मुग्ध हो गये। त्रयोदशी के दिन विट्ठल ने मकराकृत कुंडल और पीताम्बर पहना और ज्ञानेश्वर से कुछ गुह्य बातें कीं। नामदेव, संतों और भक्तों से बोले, 'अब ज्ञानदेव समाधि के लिए जा रहे हैं, इनसे आखरी भेंट कर लो।'

समाधि पूजा के लिए ब्रह्मादिक देवता आए और उन्होंने समाधि पर फूल चढ़ाए।

ज्ञानदेव के इस निर्याणोत्सव को देख कर अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार सब को दुःख हुआ। नामदेव का हृदय नवनीत के समान अत्यंत कोमल था। उनका मन वियोगाग्नि से पिघलने लगा। वे कहने लगे—"हे देव, योगियों की विभूति ज्ञानदेव का जाना मुझे अत्यंत अप्रिय मालूम हो रहा है। पानी के बिना जिस प्रकार मछली तड़पती है, उसी प्रकार मेरा प्राण व्याकुल है और मन तड़फड़ा रहा है। दशों दिशाएँ उदास दिखाई देती हैं मानो वे रो रही हैं। ज्ञानदेव के लिए तड़प-तड़प कर मेरे प्राण अब कंठ में आ गये हैं‡।"

---

‡ नामदेव, अ. १०५९।

नामदेव के मन में बीच-बीच में यह विचार भी आता था कि जिसके लिए अपनी आँखों में प्रेमाश्रु बह रहे हैं, वह अपना सखा ज्ञान रूप है, विवेक का सागर है और चारों ओर इकट्ठे हुए साधुसंत भी वैराग्य के पुतले हैं इसलिए ऐसे समाज में शोक करना लज्जास्पद है। वे अपने मन को नाना प्रकार से सँभालते थे, परन्तु किसी प्रकार यह दुखद दृश्य उनसे भुलाया न जाता था। उनका हृदय उनके बस में न था।

समाधि पूज कर सब बाहर निकले। ज्ञानेश्वर निकट ही बैठे थे। और आत्मानंद में मस्त झूम रहे थे। पढरीनाथ ने उन्हें उठाया। रुक्मिणी सिसक कर रोने लगी। नामदेव का गला भर आया, सोपान पर आकास टूट पड़ा और मुक्ता का हृदय टूक-टूक हो गया। उसकी आँखों से अखंड अश्रुधारा बहने लगी। वह एक बार ज्ञानेश्वर की ओर, और एक बार निवृत्ति की ओर देखती थी। "ज्ञानेश्वर दादा ! तुम न मानोगे, निवृत्ति दादा ! तुम इनको न रोकोगे।"

ज्ञानेश्वर हमारे माता-पिता हैं। इस संसार में अब हमारा कौन सहारा है। उनको समझा कर निवृत्तिनाथ कहते हैं कि हम चारों का रहना एक रूप है। परन्तु इन छोटे भाई-बहन को सांत्वना देते-देते स्वयं ही द्रवीभूत हो जाते और कहने लगते, कुछ भी कहो मन थमता नहीं। तालाब का बाँध टूटने से जिस प्रकार पानी सब दिशाओं में ज़ोर से बहने लगता है, उसी प्रकार उनके दुःख से आक्लान्त विवेक का बाँध फूट गया। घास के गट्ठे की डोरी छूटने से जिस प्रकार घास का तिनका-तिनका हवा में इधर-उधर उड़ने लगता है, उसी प्रकार उनका दुःख अन्त में उफन कर बाहर निकलने लगा। हरिणी के चले जाने पर जैसे उसकी झोंपड़ी भयानक लगती है और उसके बच्चे जंगल में भटकते फिरते है वैसी ही दशा ज्ञानदेव की समाधि के पश्चात् उनके भाइयों की हुई। माँ बाप ने इन्हें त्याग कर जब जल समाधि ली थी तब इन्हें इतना दुःख न हुआ था‡।

---

‡ नामदेव, अ. १०९४।

इस शोक सागर में यदि कोई अलिप्त था तो अकेले ज्ञानदेव। तूफ़ान से तरंगित समुद्र में जैसे कोई एक शान्त सुन्दर टापू हो उसी प्रकार ज्ञानदेव का हृदय शान्त व प्रसन्न था। वे आनन्द की तरंगों में झूम रहे थे। नामदेव, ज्ञानदेव की इस सिद्धावस्था को देख कर बोले, "हे देव! देखो, ज्ञानदेव का अब स्वरूप ही बदल गया है। ज्ञानेश्वर के चले जाने पर मैं कैसे जीवित रह सकूँगा?"

पंढरीनाथ ने कहा, "तू पागल है। ज्ञानेश्वर का बाह्य और आन्तरिक आत्म-स्वरूप एक ही है। अब उसे कहीं न जाना है और न आना है। ज्ञानेश्वर मरण धर्मा है—यह बात ही मिथ्या है। घड़े में रखे हुए पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है परन्तु घड़ा फूटने पर क्या सूर्य नाश को प्राप्त होता है? वह तो आकाश में प्रकाश करता ही रहता है। इस तत्त्व को तुम अच्छी तरह समझ लो तो तुम्हें अपने में, मुझमें और सारे विश्व में, ज्ञानदेव के दर्शन होंगे।

ज्ञानदेव ने प्रभु के चरणों में वंदन किया और चरणामृत लिया। वे प्रसन्न मुद्रा से समाधि मंदिर की ओर चले। वे अपनी महायात्रा के लिए जा रहे थे। अपने बड़े भाई व गुरु को नमस्कार करके उन्होंने कहा, "धन्य है कृपालु निवृत्तिराय को जिन्होंने मुझे पाला-पोसा और लाड़ किया।" निवृत्तिनाथ के रोम खड़े हो गये। निवृत्तिनाथ ने कहा 'भैया हमें छोड़ कर चल दिये'। फिर ज्ञानदेव के मुख पर हाथ फेरा और ज्ञानदेव को गले लगा लिया। यह देख कर औरों की आँखों में आँसू भर आये। 'भैया! तुमने कभी अमर्यादा नहीं की, शिष्य और गुरु के नाते को पराकाष्ठा तक निभाया, गीता का सम्पूर्ण गुह्य तत्त्व मथ कर निकाल लिया'। ऐसे गौरव के उद्‌गार निकाल कर उन्हें ज्ञानेश्वर की महिमा की याद आयी। उन्होंने ज्ञानदेव को देख कर अपनी आँखों को तृप्त किया और गद्‌गद् कण्ठ से कहा कि अब ऐसा सखा अलभ्य है।

यह दृश्य देख कर सारे सन्त व्याकुल हो उठे और अंचल से आँसू पोंछने लगे। जब ज्ञानी लोग इतने दुःखी हैं तो अज्ञानियों का क्या ठिकाना है—ऐसा कह कर विट्ठल और सन्तों ने निवृत्तिनाथ को शान्त किया और सब संतों को समझाया। आकाश में मेघ आते है, जाते हैं, परन्तु उनके लिए कौन दुःखी होता है ? बहुत से अवतार आये और गये मानो यह सब मृगजल का विस्तार है। ‡

सब संतों ने ज्ञानदेव को नमस्कार किया। विट्ठल और निवृत्ति ज्ञानदेव का हाथ पकड़ कर उन्हें समाधि स्थान पर ले गये। इंद्रायणी के तीर पर श्री सिद्धेश्वर के सामने नंदी को उठा कर वहाँ से अन्दर प्रवेश करके ज्ञानदेव की समाधि की जगह तैयार की गयी थी। नामदेव के दोनों बालकों ने इस स्थान को स्वच्छ किया था। ज्ञानेश्वर आसन पर जा कर बैठे। सबने ज्ञानेश्वर की षोड़शोपचार पूजा की। उन सबके कंठ भर आये और सबके मुँह से यही उद्गार निकला :

"पहले भी अनंत भक्त हुए है, भविष्य में भी होंगे परन्तु निवृत्ति नाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने अपार जीव-जंतुओं को मुक्त किया।" †

ज्ञानदेव ने अपने सामने ज्ञानेश्वरी रखी और १०८ ओवियों से भगवान् की 'नमन' रूप स्तुति की। फिर यह कहा—'हे देव ! आज मेरा जीवन सार्थक हुआ। मूझे आपने सुखी किया। मुझे अपने चरण कमलों में निरन्तर रहने दो।' ज्ञानदेव की समाधि का यह प्रसंग शके १२१५ कार्तिक कृष्ण गुरुवार को मध्याह्न काल में हुआ। ज्ञानदेव ने तीन बार हाथ जोड़े और अपनी आँखें मूंद लीं। वे ब्रह्म रूप हो गये। निवृत्तिनाथ बाहर आये और उन्होंने समाधि-द्वार पर शिला रख दी। उस समय नामदेव का दुःख उमड़ने लगा। वे ईश्वर से कहने लगे :

ज्ञानदेव मेरे सुख के सरोवर थे जिसमें मैं जलचर की भाँति स्वस्थ था। दुर्दैव ताप ने इस सरोवर के पानी को सुखा दिया। हे रघुवीर !

---

‡ नामदेव, अ. १०९५। † नामदेव, अ. १००८।

कृपारूपी मेघ की वर्षा करो। ज्ञानदेव के बिना मेरा प्राण व्याकुल है। हे प्रभो। तुम जगज्जीवन हो। हे विट्ठल ! तुम जान-बूझ कर अनजान क्यों होते हो ? भला बताओ, यहाँ हमारी रक्षा करने वाला कौन दूसरा है ? ‡

ज्ञानदेव ने अपनी आयु के बाईसवें वर्ष में समाधि ली परन्तु अपनी छोटी-सी ही आयु में उन्होंने महाराष्ट्र को पवित्र कर दिया। "निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम"—इन संतों की अलौकिक देन व ज्ञानेश्वरी की पवित्र वाणी छोड़ कर ज्ञानदेव अमरत्व को प्राप्त हुए। ज्ञानदेव का नाम ले कर महाराष्ट्र के वारकरी भक्त नाचने लगते है। उनकी ज्ञानेश्वरी का पारायण करके साहित्यिक उसके अलौकिक काव्यगुण से उत्फुल्ल हो उठते हैं। ज्ञानेश्वरी के रसाल निरूपण को देख कर तत्त्वज्ञ तल्लीनता से झूमने लगते हैं। ज्ञानदेव के ऐसे महान् कार्य है। ज्ञानदेव के अमरत्व को प्राप्त होने के बाद आठ महीनों के अन्दर ही शेष भाइयों और बहन ने इस संसार की यात्रा समाप्त कर दी। ज्ञानदेव के बाद ठीक एक महीने के अन्तर से सोपानदेव ने मार्गशीर्ष कृष्ण १३ को सासवड में जीवित समाधि ले ली। इसके पश्चात् तापी नदी के तीर पर मेहूण गाँव के निकट वैशाख कृष्ण १२ को मुक्ताबाई पर बिजली टूट पड़ी (वज्रपात हुआ) और वे स्वर्गस्थ हुई। अब सबसे बड़े निवृत्तिनाथ बाकी थे। उन्होंने ज्येष्ठ कृष्ण १२ को त्र्यंबक तीर्थ में ब्रह्मगिरि के दामन में जीवित समाधि ले ली।

महाराष्ट्र की चारों ज्योति बुझ गयीं परन्तु वे अपना सतत् प्रकाश महाराष्ट्र को दे रही हैं। नामदेव ने भक्ति भाव से वर्णन करते हुए कहा है कि उनका जन्म क्या था मानो संसार में सूर्योदय हुआ हो।

---

‡ **नामदेव**, अ. १२२४।

एक सुन्दर अभंग में चांगदेव ने उनके प्रति अपनी पुष्पांजलि भेंट की है :

ज्ञानदेव ने मोती के पानी से नाँद भर ली और इस पानी को पेट भर पिया। निवृत्तिनाथ ने मेघों की छाया को पकड़ कर एकान्त के लिए प्रयाण किया। सोपान देव ने फूलों के परिमल को निकाल कर हार गूंथा और उससे अपने को अलंकृत किया। मुक्ताबाई ने पकाये हुए हीरों का भोजन तृप्त हो कर किया।‡

नामदेव ने एक अभंग में ज्ञानदेव के प्रति प्रेमार्द्र हृदय से ये उद्गार निकाले हैं :

ईश्वर की चारों विभूतियाँ जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और प्रेम के रूप में प्रकट हुई थीं अन्तर्धान हो गयीं। अब संसार में उनकी कीर्ति शेष है। अब ऐसा अवतार संसार में न होगा। जिन कानों से मैंने वैराग्य की बातें सुनी हैं उन्हें अब कौन ज्ञान सुनाएगा और ईश्वर की पहचान कौन कराएगा? निवृत्तिनाथ जैसा साधन संपन्न कौन मिल सकेगा? परब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले ज्ञानदेव जैसा कौशल संपन्न अब कोई न मिल सकेगा। सोपान देव जैसा परमार्थ निरूपण करने वाला कौन मिलेगा? मुक्ताबाई जैसी गुह्य बोधक कौन मिल सकेगी? नामदेव कहते हैं कि हे प्रभो! मैं अब क्या कहूँ?†

---

‡ मोतियाचें पाणी रांजण भरिला। पोट भरुनी प्याला ज्ञानदेव॥
अभ्राची साउली धरोनियाँ हातीं। गेला से एकांतीं निवृत्तिदेव॥
पुष्पाचा परिमळ वेगळा काढिला। तो हार लेइला सोपानदेव॥
हिऱ्याच्या घुगऱ्या जेवण जेवली। पोट भरुनी घाली मुक्ताबाई॥
R. D. Ranade Mysticism in Maharashtra Page 46. † नामदेव, अ. १२१४।

प्रगाढ़ अध्ययन

आणि बापु पुढां जाये । ते घेत पाउलाची सोयें ।
बाळ ये तरी न लाहे । पावों कायी ।।
तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु । भाष्य कारातें वाट पुसतु ।
अयोग्य ही मी न पवतु । कें जाईन ‡ ।।

अर्थात्

पिता जिस मार्ग से आगे गया है, उसे अवलम्बन करने से बालक क्या उस स्थान को न पहुँच सकेगा, जहाँ उसका पिता पहुँचा है ? उसी प्रकार मैंने व्यास जी के मार्ग का अनुगमन किया है और भाष्यकार श्री शंकराचार्य के पद-चिह्नों पर चल रहा हूँ। ऐसी स्थिति में—यद्यपि मैं अयोग्य हूँ—क्या मैं उस स्थान को न पहुँच सकूँगा जहाँ व्यास जी पहुँचे हैं ?

उपरोक्त उद्धरण से सिद्ध होता है कि ज्ञानेश्वर पर व्यास और श्री शंकराचार्य की छाप है। उन्होंने व्यास और श्री शंकराचार्य द्वारा प्रणीत ग्रंथों का अनुशीलन किया था; परन्तु वे केवल अनुवादक न थे। उनके ग्रंथों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है। कुछ उदाहरण देखिए—

महाभारत :

महाभारत के अश्वमेध पर्व के पैंतीसवें अध्याय में संसार वृक्ष का रूपक दिया हुआ है और इसके आगे विश्व रचना के महान्, अव्यक्त, अहंकार इत्यादि पचीस तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

---

‡ ज्ञानेश्वरी, अ. १८।१७२१–१७२२। देखिए—नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर वाङमय आणि कार्य पृ. २३२-२३४। ज्ञानेश्वरी में महाभारत, भागवत, योगवासिष्ठ इत्यादि ग्रंथों के संदर्भ मिलते हैं।

ह. भ. प. शं. वा. दांडेकर।

गीता के पंद्रहवें अध्याय के पहले श्लोक में भी यही वर्णन है :

ऊर्ध्व मूलमधः शाखाम श्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

इस श्लोक पर टीका करते हुए ज्ञानदेव कहते हैं कि इस विश्व की जड़ अज्ञान है अर्थात् यह जगद्रूपी वृक्ष अज्ञान मूलक है जिससे महत्, अहंकार, बुद्धि, पंच महाभूत, शब्द-स्पर्शादि विषय, इत्यादि शाखाएँ नीचे उतरती हैं। इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ है। व्यवहार में 'अश्वत्थ' का अर्थ 'पीपल' लिया जाता है; परन्तु ज्ञानेश्वर ने यह अर्थ ग्रहण नहीं किया। वे 'अश्वत्थ' का अर्थ इस प्रकार करते हैं :

जो आज है, परन्तु कल तक शेष नहीं रहता [अ=नहीं, श्व=कल, त्थ=रहने वाला]। इस संसार रूपी वृक्ष की स्थिति प्रत्येक क्षण नाश होती रहती है; इसलिए इसे अश्वत्थ कहते हैं। क्षणिक होने के कारण ही संसार रूपी वृक्ष को अश्वत्थ कहते हैं। यह वृक्ष अव्यय भी है। परन्तु क्षणिकत्व और अव्ययत्व में विरोध है। ये गुण एक साथ नहीं रह सकते। इस विरोधाभास को मिटाने के लिए ज्ञानदेव ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार वेग से चलने वाला भौरा पृथ्वी पर निश्चल खड़ा दिखाई देता है, उसी प्रकार इस संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति और लय इस तेज़ी से हो रही है कि वह मालूम नहीं होती; इसलिए इस पर अव्ययत्व का आरोप किया गया है ‡।

भागवत :

ते हे कल्पादि भक्ति मियां। श्री भागवत मिषें ब्रह्मया।
उत्तम म्हणौनि धनंजया। उपदेशिली † ॥

---

‡ ज्ञानेश्वरी, १५।१०५-१२३। † वही १८।११३२।

कै. ह. भ. प. **पांगारकर** लिखते हैं : "ज्ञानेश्वरी पर भागवत का बड़ा संस्कार हुआ है। ज्ञानेश्वर के समान अन्य मराठी संत कवियों पर

ज्ञानदेव के कृष्ण कहते हैं कि कल्प के आरम्भ में इस ज्ञान-भक्ति का उपदेश मैंने भागवत द्वारा ब्रह्मा को दिया—इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञानेश्वर इस ग्रंथ से भली-भाँति परिचित थे।

भागवत के दृष्टान्तों और कल्पनाओं को भी ज्ञानेश्वर ने अपनाया है। यथा—

(१) **बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानिविष्णोर्न निरीक्षतो ये ‡।**
अर्थात् : जिसकी आँखें भगवान् के दर्शन नहीं करतीं वे मोर पंख की आँखों के समान निष्फल हैं।

भागवत के उपरोक्त दृष्टान्त का उपयोग ज्ञानेश्वर ने यह स्पष्ट करने के लिए किया है कि अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याओं में पारंगत होना निरर्थक है।

मोरा आंगीं अशेषें। पिसें असती डोळसें।
परि एकली दृष्टि नसे। तैसें ते गा † ॥

(२) **देव संज्ञितमप्यन्ते कृमि विड्भस्मसंज्ञितम $।**
अर्थात् : मरने के बाद देह की तीन गति होती हैं—अग्निसंस्कार से शरीर भस्म बन जाता है, अरण्य में पड़े रहने से उसमें कृमि उत्पन्न होते हैं, जंबुक, कुत्ता आदि के खा लेने पर विष्ठारूप बन जाता है।

भी भागवत का संस्कार हुआ है। नाथ महाराज का एकादश स्कंध पर स्वतंत्र भाष्य ही है।...अतः बहुधा उनके सब सिद्धान्तों का स्रोत भागवत में है।...इन साधु-संतों ने अपने ग्रंथों और उक्ति से भागवत सिद्धान्त का ही प्रसार किया। भागवत ने हिन्दू राष्ट्र पर कितना भारी उपकार किया है।"

ह. भ. प. शं. वा. दांडेकर : एक नाथ दर्शन खंड–२, पृ. २-३।

‡ भागवत : स्कंध २, अ. ३, श्लो. २२। † ज्ञानेश्वरी अ. १३।८३६। $ भागवत : स्कंध १०, अ. १० श्लो १०।

ज्ञानेश्वर ने इस कल्पना को अपनाया है :

हे विषायें आगीं पडे । तरिभस्म होऊनि उडे ।
जाहले श्वान वरिपडें । तरी ते विष्ठा ॥
या चुके दोहीं काजा । तरि होय कृमींचा पुंजा ।
हा परिणामु कपिध्वजा । कश्मल गा‡ ॥

विष्णु पुराण :

विष्णु पुराण में एक कथा है, जिसमें यम ने अपने दूतों को हरि-भक्त के लक्षण बताए है :

वसति हृदि सनातने च तस्मिन भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽतः कथयति चारु तयैव शाल पोतः† ॥

अर्थात् : जिसके हृदय में भगवान् सदा निवास करते हैं, वह मनुष्य अत्यन्त सौम्यरूप बन जाता है। उसके देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अपना सुपरिचित स्नेही है। जिस प्रकार वृक्ष का अंकुर अपने वाह्य सौन्दर्य से अपने में संघटित पृथ्वी के अतिरम्य रस की सूचना देता है, उसी प्रकार भगवान् को सदा अपने हृदय में धारण करने वाले मनुष्य का रूप होता है।

नीचे की ओवियों में ज्ञानेश्वर ने विष्णु पुराण के उपरोक्त श्लोक का अनुवाद किया है—ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु इसमें भी संस्कृत के भारी भरकम शब्दों के स्थान पर मराठी के मधुर हलके-फुलके शब्दों का उपयोग कर उन्होंने अपने भाषा-प्रभुत्व का द्योतन किया है :

अगा वृक्षासि पाताळीं । जळ सांपडे मूळीं ।
तें शाखांचिये वाहाळीं । बाहेर दिसे ॥
कां भूमीचें मार्दव । सांगे कोंभाची लव लव ।
नाना आचार गौरव । सुकुलीनाचे ॥

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १३।११०५-११०६। † विष्णु पुराण : स्कंध ३, अध्याय ७, श्लो. २५।

अथवा संभ्रमाचिया आयती । स्नेहो जैसा ये व्यक्ती ।
कां दर्शनाचिये प्रशस्तीं । पुण्य पुरुष ।। ‡

अध्यात्म प्रकरण :

तैसें शास्त्र जात जाण । आघवेंचि अप्रमाण ।
पार्था अध्यात्म ज्ञानेंविण । एकलेनी ।। †

उपरोक्त ओवी से यह झलकता है कि ज्ञानेश्वर का कटाक्ष अध्यात्म ग्रंथों की ओर अधिक था । यहाँ तक कि उन्होंने शकराचार्य की आत्मज्ञान विषयक छोटी-छोटी स्फुट रचनाओं का उपयोग उत्तम प्रकार से किया है । ज्ञानेश्वर को 'विवेक चूडामणि', 'शत श्लोकी', 'प्रबोध सुधाकर' जैसे प्रकरण अच्छी प्रकार अवगत थे । 'प्रबोध सुधाकर' के बहुत से विचार और दृष्टांत ज्ञानेश्वर ने हूबहू स्वीकार किये हैं । उदाहरणार्थ :

(१) **क्षीरादुद्धृतमाज्यं यथा पुनः क्षीरतां न यातीह ।**

अर्थात् : दूध से निकाला हुआ घी फिर अपने मूल स्वरूप में नहीं जा सकता ।

म्हणोनि तूप होऊनी माघौतें । जेवीं दूधपणा न येचि निरुतें ।

(२) **दर्पणत. प्राक्पश्चादस्ति मुखं प्रति मुखं तदा भाति ।**
आदर्शोऽपि च नष्टे मुखमस्ति तथैवात्मा ।।

अर्थात् : दर्पण सामने रखने से दर्पण में मुख दिखाई देता है । दर्पण हटा देने से आभास मिट जाता है; परन्तु मुख का अस्तित्व नहीं मिटता । वैसे ही आत्मा की सत्ता समझनी चाहिए ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १३।१८०—१८२ । † वही अ. १३।८३९ । ज्ञानदेव के ग्रंथों के अवलोकन से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन्होंने शंकराचार्य के ग्रंथ, योग वासिष्ठ, शिव सूत्र, भागवत और योग शास्त्र का अच्छा अनुशीलन किया था । ह. म. प. **शं. वा. दांडेकर**

कां आरसां समोर ठेविजे । आणि आपणपे तेथ देखिजे ।
तरि तेथवांचि जालें मानिजे । काय आधीं नाहीं ।।
कां परता केलिया आरसा । लोप जाला तया आभासा ।
तरी आपणपे नाहीं ऐसा । निश्चय करावा ।।

(३) **उरग ग्रस्तार्ध तनुर्भेकोऽश्नातीह मक्षिकाः शतशः ।**
एवं गतायुरपि सन् विषयान्समुपार्जयत्यंधः ।।

अर्थात् : मेंढक साँप के मुँह में पीछे से आधा फँसा हुआ है । 'मैं काल के मुँह मे हूँ'--इसका भान न रह कर वह अपनी जीभ में चिपटी हुई मक्खियो को निगलने का प्रयत्न करता है । इसी प्रकार गत आयु मूर्ख विषयो मे ही फँसा रहता है ।

वेडुक सापाचिये तोंडीं । जातसे सबुडबुडीं ।
तो मक्षिकांचिया कोडो । स्मरेना काहीं ।।

अथवा

दर्दुर सापें गिळिजतु आहे उभा । की तो मासिया वेटाळी जिभा ।

(४) **निशि वेश्मनि प्रदीपे दीप्यति चौरस्तु वित्तमपहरति ।**
ईरयति वारयति न वा तं दीपः किं तथात्मापि ।।

अर्थात् : दीपक के उजाले में चोर अपना काम करता है । दीपक उसको प्रोत्साहन देता है और न निवारण ही करता है उसी प्रकार आत्मा उदासीन है ।

जैसा दीप ठेविला परिवरीं । कवणातें नियमी ना निवारी ।
आणि कवण कवणिये व्यापारीं । रहाटे तेहि नेणें ।।

इस उदाहरण से ज्ञानदेव ने ईश्वर की उदासीनता का स्पष्टीकरण किया है । जैसे दीपक साक्षी हो कर गृहकार्य की प्रवृत्ति के लिए कारणीभूत होता है उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय— इन कर्मों से मैं उदासीन रहता हूँ, परन्तु मैं सब प्राणियों में व्याप्त हूँ ।

उपनिषद् :

उपनिषदां कडे न वचे । योग शास्त्र न रुचे ।
अध्यात्म ज्ञानीं जयाचें । मनचि नाहीं ।।‡

उपरोक्त ओवी से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानेश्वर अध्यात्म ज्ञान के लिए उपनिषदों के अनुशीलन को कितना महत्त्व देते हैं। गीता सब उपनिषदों का सार है और ज्ञानेश्वरी गीता पर टीका है अत: ज्ञानेश्वरी में उपनिषदों के वाक्यों की टीका मिलना स्वाभाविक ही है।

"गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, आठवें अध्याय का अक्षर ब्रह्म-स्वरूप और तेरहवें अध्याय का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार तथा विशेषत. 'ज्ञेय' परब्रह्म का स्वरूप—इन सब विषयो का वर्णन गीता में अक्षरशः उपनिषदों के आधार पर ही किया गया है।"

गद्यात्मक उपनिषदों के वाक्य पद्यमय गीता में कम उद्धृत हुए हैं परन्तु पद्यात्मक उपनिषदों और गीता की समता अधिक स्पष्ट व्यक्त हो जाती है, क्योंकि इन पद्यात्मक उपनिषदों के कुछ श्लोक ज्यों के त्यों भगवद्गीता में उद्धृत किये गये हैं †।

पातंजल-योग शास्त्र

पतंजलि ने योग साधन के लिए आठ अंग माने हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ज्ञानेश्वर ने न केवल योग शास्त्र का अध्ययन किया था वरन् वे योग मार्ग के पूर्ण अनुभवी थे। भगवद्गीता के छठवें अध्याय में योग मार्ग के चार-पाँच श्लोक हैं। उनका भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। योग मार्ग को ज्ञानेश्वर ने 'पंथराजु' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि वे योग मार्ग का कितना मान करते थे।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १३।८२७ † देखिए : **तिलक** : गीता रहस्य पृ० ५२६-५२७।

शिव जी योग के राजा समझे जाते हैं। उनको भी इस मार्ग का यात्री कह, ज्ञानदेव ने इस मार्ग का बड़प्पन प्रकट किया है।

ज्ञानदेव कहते हैं :

योग एक पर्वत है जिसके शिखर पर पहुँचने के लिए कर्म-मार्ग की सीढ़ियो का उल्लंघन करना ठीक नहीं। साधक को 'यम-नियम' से गुज़र कर 'आसन' सिद्ध करने पर 'प्राणायाम' की कठिन शिला मिलती है जिसके बाद वह योग रूपी पर्वत के मध्य भाग तक पहुँचता है। इसके बाद 'प्रत्याहार' की टूटी और रपटीली शिला मिलती है जिस पर बुद्धि के पैर ठहरते नहीं अतः हठ योगी को अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ती है। परन्तु वैराग्य रूपी गोह इस रपटीली शिला पर चिपट जाती है और अभ्यास के बल से साधक ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्राण और अपान के वाहन पर आरूढ़ हो कर 'धारणा' के मार्ग से 'ध्यान' रूपी शिखर पर पहुँच जाता है; फिर जब साध्य और साधन में कोई भेद नहीं रहता तो ब्रह्मैक्य पद प्राप्त होता है। इस अवस्था को 'समाधि' कहते हैं। ‡

ज्ञानदेव ने उपरोक्त रूपक द्वारा एक कुशल और अनुभवी गुरु की भाँति योग के आठों अंगों के नाम ही नही बताए बल्कि इस मार्ग की कठिनाइयों का भी आभास दे दिया है। इसके पश्चात् इन आठों अंगों का विशद विवेचन किया है और अन्त में कुण्डलिनी चक्रों को भेद कर किस तरह चन्द्रामृत का पान करती है और ब्रह्मरंध्र में लय हो जाती है—इसका वर्णन है। †

योगवासिष्ठ :

यह संस्कृत भाषा का वेदान्त-शास्त्र विषयक अद्वितीय महान् ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ में भगवद्गीता के अनेक अंश जगह-जगह बिखरे हुए है।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ६।१५२-१६०। † वही अ. ६।५४-६० $ वही अ. ६।१६३-३१५।

गीता का अध्ययन-मनन करते हुए ज्ञानेश्वर ने इस ग्रंथ का अवलोकन किया होगा। उपमा दृष्टान्त की सहायता से अपने प्रतिपाद्य विषय की शोभा और माधुरी बढ़ाने वाली शैली ज्ञानेश्वर ने योगवासिष्ठ से अपनायी। देह, जन्म, बाल्य, तारुण्य, जरा, व्याधि इत्यादि देहावस्था, स्त्री, संपत्ति—इनकी निन्दा योगवासिष्ठ के आरम्भ में ही आयी है। भारतीय तत्त्वज्ञान के प्राचीन ग्रंथों में यह विषय एक जगह देखने को नहीं मिलता। परन्तु बौद्ध विचार सरणी के आदर से भरे हुए नये वेदान्त में इन विषयों का स्पर्श-परामर्श अपरिहार्य मालूम होता है। ज्ञानेश्वर का जन्म भी इस नये वेदान्त के प्रभाव काल मे हुआ अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उन्होंने योगवासिष्ठ का उपयोग किया; परन्तु इस सम्बन्ध में उपमा-दृष्टान्त की शैली ही एक आधार है ‡।

कथा संदर्भ †:

ज्ञानेश्वरी में लगभग ६०-६५ कथाएँ विभिन्न प्रसंग की आयी हैं। ये कथाएँ महाभारत, रामायण और अधिकतर भागवत से ली गयी हैं।

महाभारत—

(१) **ध्वजेवरी वानरु। तो मूर्तिमंत शंकरु।**
सारथी शार्ङ्गधरु। अर्जुनेसी $॥

इस ओवी में अर्जुन के रथ का वर्णन करते हुए **'ध्वजेवरी वानरु'** कहा गया है अर्थात् अर्जुन के रथ की पताका पर हनुमान जी बैठे हैं। इसका संकेत महाभारत वन पर्व अध्याय १४६-१५१ में वर्णित भीम और हनुमान जी की भेंट की कथा की ओर है। हनुमान जी ने भीम को अपना यथार्थ रूप दिखाया और वर दिया कि "युद्ध के समय मैं

---

‡ **नरहर रघुनाथ फाटक** : ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, पृ. २३४-२३५। † **ना. मो. सोमण** : श्री ज्ञानेश्वर दर्शन भाग १—साहित्य खंड, पृ. १८०-१९६। $ ज्ञानेश्वरी : अध्याय १।१४१।

अर्जुन के रथ पर रह कर अपने प्रचंड गर्जन से शत्रु की सेना को भयभीत करने वाला दारुण शब्द उत्पन्न करूँगा और इस प्रकार तुम, शत्रुओं का सहज ही संहार कर सकोगे ।"

(२) **तुवां संग्रामी हरु जितला । निवात कवचा चा ठावो फेडिला ।**
पवाडा तुंवा केला । गंधर्वासी ‡ ।।

यह उल्लेख किरातार्जुन-युद्ध को ध्यान में रख कर लिखा गया है—ऐसा मालूम होता है । इस युद्ध में अर्जुन की हार हुई तथापि अर्जुन का युद्ध कौशल देख कर शंकर प्रसन्न हुए । यह कथा महाभारत, वन पर्व, अध्याय ३९ में है ।

उपरोक्त ओवी में अर्जुन ने निवात कवच का पराजय किया । यह कथा वन पर्व अध्याय १६९-१७१ में है । निवातकवच नाम के दैत्य ने घोर तप करके ब्रह्मदेव से वर माँग लिया कि युद्ध में देवता उसका कुछ न बिगाड़ सकेंगे । इस दैत्य ने देवताओं को बहुत कष्ट दिया । अर्जुन ने देवताओं के दिव्य अस्त्रों की सहायता से निवातकवच का नाश किया । अर्जुन की इस कृति से इन्द्रादि सब देव संतुष्ट हुए और गंधर्वों ने उनकी स्तुति की ।

रामायण—

(१) **हां हो एकांची षाठीचि तपनली । एकि शृष्टीवरी शृष्टी केली ।**
एक पाखाणि वाऊनि उहरविलीं । समुद्री कटकें † ।।

इस ओवी में तीन कथाओं का उल्लेख है । पहले चरण में वसिष्ठ ऋषि ने अपने योग से संसार को उजाला दिया । यह कथा है । दूसरे चरण में विश्वामित्र ने त्रिशंकु के लिए नयी सृष्टि की रचना की—इसका उल्लेख है । तीसरे और चौथे चरण में रामचन्द्र द्वारा पाषाण से समुद्र पर सेतु निर्माण की कथा है ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी : अध्याय २।१० । † ज्ञानेश्वरी : अध्याय १०।३५ ।

(२) **'एकिं आकाशीं सूर्यातें धरिलें ‡ ।'**

यह कथा हनुमान जी की ओर संकेत करती है। जैसे ही हनुमान जी का जन्म हुआ उन्हें बहुत ज़ोर की भूख लगी। वे प्रातःकाल के अरुण सूर्य को देख कर यह समझे कि यह कोई लाल पका हुआ फल है। ऐसा समझ कर वे सूर्य को निगलने के लिए उड़े।

भागवत

(१) **हें सांधावें काइ किरीटी । तुम्ही देखिलें आपुल्या दीठी ।**
मीं सुदामियांचिया सोडीं गांठीं । पहुवेयां लागीं † ॥

इस ओवी में सुदामा के मुट्ठी भर तंदुल की भेंट का उल्लेख है। सुदामा की स्त्री ने दो मुट्ठी भर तंदुल की कनी कृष्ण की भेंट के लिए बाँध दी। सुदामा जब कृष्ण के पास पहुँचे तो उनका वैभव देख कर लज्जित हुए। कृष्ण ने सुदामा की बग़ल से तंदुल की पोटली निकाल कर कुछ तंदुल खा लिये। और सुदामा के लिए सुवर्ण नगरी तैयार करवायी। इस ओवी में सुदामा की कथा का उल्लेख इसलिए किया गया है कि भक्त की अल्प भेंट से भी परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। यह कथा दशम स्कंध, अध्याय ८०।८१ में है।

(२) **नातरी भियाचेनि मीसे । माते न पविजेचि काइकंसें ।**
कि अखंडें वैराव वेशें । चैद्यादिक $ ॥

इस ओवी में कंस और शिशुपाल का उल्लेख है। कंस की कथा दशम स्कंध मे है। श्री कृष्ण ने कंस का वध किया और उसे मुक्ति प्रदान की।

शिशुपाल वध की कथा स्कंध १८, अध्याय ७४ में है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की पूजा की। इस पर शिशुपाल को क्रोध आया और उसने कृष्ण की निन्दा की। श्रीकृष्ण ने उसे मार डाला।

---

‡ ज्ञानेश्वरी : अध्याय १०।३६। † ज्ञानेश्वरी : अध्याय ९।३९०।
$ वही : अध्याय ९।४६२।

उसके शरीर से जो प्राण-ज्योति निकली वह श्रीकृष्ण के शरीर में प्रवेश कर गयी ।

इन कथाओं के अतिरिक्त ज्ञानेश्वरी में भागवत की अन्य बहुत-सी कथाओं के संदर्भ आए है । यथा—

गुरु के मृत पुत्र को, मृत्यु के मुख से छुडाना, प्रेम, भक्ति और वैर द्वारा भगवान् का प्राप्त होना, गोवर्द्धन का उद्धार, इन्द्र का गर्व परिहार, जलते हुए गोकुल की रक्षा, बछड़ों के लिए ब्रह्मा का पागलपन, कालिय और पूतना का वध, यशोदा को विश्वरूप दिखाना, भृगु का लात मारना, बलि के द्वार पर भगवान् का द्वारपाल बनना, अजामिल की सद्गति, ध्रुव का साक्षात्कार इत्यादि ।

सारांश यह कि ज्ञानेश्वर ने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों का अध्ययन किया, पुराणों, स्मृतियों आदि धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन किया, वेदान्त के दार्शनिक ग्रंथों में मज्जन किया, उन्हें आत्मसात् किया फिर अपनी शैली में स्वानुभव का पुट दे कर संसार के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया । तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के सम्बन्ध में जो कहा है, वह अक्षरशः ज्ञानेश्वरी पर चरितार्थ होता है ।

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।

ज्ञानदेव की विशेषताएँ

ज्ञानदेव की विशेषताओं और अन्त : प्रकृति का संक्षिप्त वर्णन करना ज़रूरी है क्योंकि इनके बिना जाने पाठक ज्ञानदेव को ठीक-ठीक न समझ सकेंगे ।

सुदृढ़ और पूर्ण मानसिक स्थिति :

साधु-संतों में दो वर्ग होते है । कुछ तो जन्म से ही इतने सत्व सम्पन्न होते हैं कि उनके विचार और विकार के बीच कभी झगड़ा नही हुआ । जो बात उन्हें अच्छी मालूम हुई उसी पर उन्होंने आचरण किया । **'जानामि धर्मं न चमे प्रवृत्ति'** ऐसी हीन-दीन भाषा बोलने का उन्हें कोई कारण ही न था । काम, क्रोधादि षड्रिपु उन्हें सता नहीं सकते । वे प्राय: इंद्रियो के स्वामी ही बन कर जन्म लेते हैं । दूसरे वर्ग के संत इतने भाग्यशाली नहीं होते । उनके विचारों और विकारो में तुमुल युद्ध बहुत समय तक होता रहता है । बहुधा उनके शरीर रूपी रथ को इंद्रिय रूपी घोड़े विषय के वाम मार्ग पर ले जा कर ढकेल देते है; फिर ईश्वर-कृपा से सात्विक धैर्य का बल बुद्धि को प्राप्त हो कर वे महाकष्ट से इंद्रिय दमन करते है ।

तुकाराम महाराज कहते हैं कि रात-दिन हमें युद्ध से ही भेंट, अन्तर्वाह्य जग और मन में सदा झगड़ा ही बना रहता है । ‡ सारांश यह कि इस वर्ग के संतों को बड़े संकट सहन करने पड़ते है और कालान्तर में आत्मज्ञान का अभ्यास करके उन्हें नव जीवन में तृप्ति प्राप्त होती है, परन्तु उनके शरीर पर कष्ट के दाग़ दिखाई ही देते हैं । अर्थात् इन दोनों वर्गों के संतों की संसार को देखने की दृष्टि अलग-अलग होती

---

‡ **रात्रं दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग । अंतर्वाह्य जग आणि मन ।**

है। जिसे कभी कष्ट भोगने नहीं पड़े और जिसकी भावना सहज ही तृप्त हो जाती है उसकी संसार को देखने की दृष्टि निराली ही होती है। जन्म भर कष्ट भोग कर अन्त में जिन्हें ध्येय-सिद्धि प्राप्त होती है उनकी दृष्टि दूसरी होती है। पहले वर्ग के साधु-संत उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। बहुत से साधु दूसरे वर्ग के होते हैं। ज्ञानदेव पहली कोटि के संत थे। अनेक जन्मों की बड़ी कमाई थी कि बाल्यावस्था में ही निवृत्तिनाथ सरीखे गुरु उन्हें प्राप्त हुए और वे भी घर बैठे। दूसरों को जो बात कष्ट साध्य है वह उन्हें सुलभ मालूम होती है।

ज्ञानदेव, एकनाथ और तुकाराम ने एक ही प्रसंग 'ब्रह्मचर्य' के संबंध में जो व्याख्या की है उससे यह तत्त्व समझ में आता है। ज्ञानदेवानुसार "जन्म के समय ही स्त्री देह का स्पर्श होता है। उसके पश्चात् सारी आयु में स्त्री को स्पर्श न करना चाहिए।" ‡ परन्तु एकनाथ और तुकाराम की व्याख्या इससे अलग है। एकनाथ के मतानुसार "जो मनुष्य ऋतु काल में स्त्री गमन करता है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी है।" † तुकाराम महाराज इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं। "विधि से विषय का सेवन करना त्याग के समान है।" $ ऐसा ही अन्तर इन तीनों ने साधक दशा और साधुओं के लक्षण के वर्णन में किया है। ये तीनों ही सत्पुरुष हमारे लिए पूज्य हैं और अपने-अपने स्थान पर ही महा पुरुष हैं। परन्तु उनकी मूल प्रकृति का विचार करने से जो अन्तर दिखाई देता है उसमें उन सत्पुरुषों का इतिहास संचित है। इसलिए इस भेद को समझना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि ज्ञानदेव के ग्रंथों

---

‡ जन्मतेनि प्रसंगे। स्त्री देह शिवणें आंगे।
तेथून जन्म आघवें। सोंविळें कीजे॥ (ज्ञानेश्वरी १७।२११)

† ऋतु काळीं ज्या स्त्री गमय। ते पुरुष ब्रह्मचारी पूर्ण।
(नाथ भागवत् अ. ५)

$ विधीनें सेवन। विषय त्यागावें समान। (तुकाराम गाथा)

में उनकी निर्व्यंग मन.स्थिति पूरी तरह व्यक्त होती है। अतः उनके सांसारिक दुःखों के वर्णन में संसार में फँसे हुए मनुष्य की वेदनाएँ और आतुरता दिखाई नहीं देतीं। उनकी मनोवृत्ति उस तोते के समान है जो बहेलिये के नलिका यंत्र पर बैठते ही उड़ कर वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है। इसीलिए ये चित्र ऐसे आत्म-तृप्त जीव के हैं जो संसार के झगड़ो से मुक्त है।

अलौकिक काव्य स्फूर्ति

ज्ञानदेव में वस्तु के अंतरंग में घुस कर उसका हूबहू वर्णन करने की जितनी क्षमता है उतनी ही सामर्थ्य कल्पना पंखों द्वारा ऊँचे से ऊँचे ध्येय तक उड़ान कर उसे पाठकों के सामने साकार खड़ा कर देने की है। उनकी काव्य-स्फूर्ति की यह लोकोत्तर क्षमता जिन्हें देखनी है उन्हें चाहिए कि ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय के 'अज्ञानं यदतोन्यथा'—इस श्लोक पर 'अज्ञान' के लक्षणों की व्याख्या देखें अथवा ज्ञानियों के लक्षणों में 'अहिंसा' पद की व्याख्या देखें।

यथा—

जो दिन में तीन बार स्नान करके शरीर में इत्र फुलेल लगाता है; परन्तु प्राणियों की पूजा करने को कष्ट समझता है उसे अज्ञान की खान समझो।‡

लोहार के भाते के समान अज्ञानी मनुष्य लाभ होने पर आनन्द से फूल जाता है और हानि होने पर दुःख में डूब जाता है। वायु के कारण भँवर में पड़ कर धूल जिस प्रकार आकाश में पहुँच जाती है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपनी स्तुति सुन कर हर्ष से फूल जाता है†।

जिस मनुष्य को मान और अपमान सहन नहीं होते वह अज्ञान का निवास स्थान है।$

‡ ज्ञानेश्वरी १३।६६१। † $ ज्ञानेश्वरी १३।६६६–६६८।

अपनी सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास

ज्ञानदेव को विश्वास था कि उनकी 'भावार्थ दीपिका' मूल संस्कृत गीता पर मराठी टीका है तथापि साहित्य में उसे स्वतंत्र स्थान प्राप्त है। अतः वह अपने प्रकाश और सौदर्य से पाठकों की आँखे चौंधा देती है। मराठी भाषा-प्रभुत्व की अपनी असाधारण जानकारी उन्होंने ज्ञानेश्वरी में जगह-जगह व्यक्त की है। उनके स्वभाव में स्वाभिमान है; परन्तु घमंड नहीं। विनय है परन्तु दीनता नही। वे कहते हैं : देशी भाषा के सौंदर्य से शान्त रस भी शृंगार रस को जीन लेगा। इस योग से मराठी की ओवियाँ साहित्य के भूषण की तरह शोभा देंगीं। मूल संस्कृत ग्रंथ और उस पर मराठी टीका को पढ़ कर यह पहचानना कठिन हो जाएगा कि मूल ग्रंथ कौन-सा है ? जिस प्रकार सुन्दर शरीर पर आभूषण पहनने से यह नही कहा जा सकता कि आभूषण से शरीर की शोभा है अथवा शरीर से आभूषण की; उसी प्रकार देशी और संस्कृत भाषा एक ही ग्रंथ गीता का भावार्थ प्रकट करके एक ही स्थान पर शोभा को प्राप्त हुई है।

अथवा :

"मैं कौतुक से मराठी में ऐसे रसाल शब्द बोलूँगा जो अपने माधुर्य से अमृत की मधुरता को भी जीत लेंगे। मेरी भाषा में इतना माधुर्य होगा कि उसके चखने के लिए श्रोता गणों के कानों में जीभ निकलेंगी। सब इन्द्रियाँ इस सुख के लिए आपस में कलह करेंगी। गीता में कथित तत्त्वज्ञान अतीन्द्रिय है; परन्तु मैं अपने शब्दों से अरूप को साकार कर के दिखाऊँगा, समुद्र से भी अधिक गम्भीर और अर्थपूर्ण मराठी भाषा सुनाऊँगा।

जिस प्रकार कोई स्त्री सुन्दर, गुणवान, कुलीन, शीलवती होते हुए भी पतिव्रता होती है उसी प्रकार मेरो भाषा सब अलंकारों से विभूषित

‡ ज्ञानेश्वरी ६।१४–१८।

होते हुए भी अध्यात्म विषयक और शान्ति प्रदायक होगी। मेरे शब्द अमृत की कल्लोल की तरह रसाल होंगे।" ‡

इस प्रतिज्ञा को उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया। गीता को व्यास द्वारा पहले संस्कृत वाणी का माधुर्य प्राप्त हुआ था अब उसमें मराठी की मंजुलता मिल गयी है।

कवि का चातुर्य तभी निखरता है जब वह अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए शृंगारादि रसों की वर्षा करता है, उसी प्रकार अगणित गीता तत्त्वों की रचना करने के लिए मैंने देशी भाषा के सौदर्य और रस को लूट कर उसमें तारुण्य और लावण्य भर दिया है। †

ज्ञानदेव की लेखन पद्धति स्वतंत्र है। अपना भावार्थ उत्कृष्ट और सहज सुन्दर रीति से श्रोताओं को हृदयंगम कराने की ओर उनका लक्ष्य रहता है। वेदान्त की भाषा और अर्थ आत्मसात् करके ज्ञानदेव ने अपनी वाणी मे अनमोल बोल कहे है। ज्ञानदेव का आध्यात्मिक अनुभव और काव्य स्फूर्ति श्रेष्ठ कोटि की है। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि आध्यात्मिक साहित्य में उनका कोई सानी नही।

विनय :

गुरु का गौरव और उनके प्रति अपनी विनय ज्ञानेश्वर ने जितनी प्रकट की है उतनी संसार के साहित्य में शायद ही कही मिले। इस गौरव और विनय-वर्णन का उनका अनुराग तो वास्तव में आलौकिक ही है। निवृत्तिनाथ उनके भाई और गुरु थे। वे भाई के नाते से निवृत्ति-नाथ को प्रेम करते थे और गुरु के नाते से उनका आदर करते थे। ज्ञानेश्वरी में उनके प्रेम और भक्ति की तरंगे उठती हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं : मैं तुतलाता हुआ बालक हूँ, रेंगता हुआ बच्चा हूँ, पंख न निकला हुआ पक्षी हूँ। मैं ग़रीब हूँ, मूक हूँ। शब्द कैसे गढ़ा जाए, सिद्धांत कैसे प्रतिपादित किया जाए, अलंकार किसे कहते हैं—यह मैं नहीं

‡ ज्ञानेश्वरी ४।२१७। † ज्ञानेश्वरी १०।४२–४७।

जानता, परन्तु गुरु-कृपा के आधार पर मैं गीता का भावार्थ कहने के लिए तैयार हुआ हूँ। आप सन्तों की सभा में, मैं प्रेम-पात्र बनने के योग्य नहीं हूँ। परन्तु आप मुझे अपना बच्चा समझ कर प्रेम करते हैं। यहाँ जो-जो मैं कहता हूँ वह सब मेरे गुरु ने ही मुझे सिखाया है। उन्होंने इस साहित्य के मधुर वृक्ष को लगाया जिसमें भाव के फूल और अर्थ के फल लटकेंगे। गुरु-कृपारूपी चन्द्र से मेरी स्फूर्ति रूपी समुद्र में ज्वार की लहरें उठेगी। महर्षि व्यास ने गीता के कंठ में पुष्पों की माला पहनायी। क्या गीता-माता मेरे दुर्वांकुर अस्वीकार करेगी ?

वे गुरु के सामने नम्र होते हैं; परन्तु गुरु ने अपना केवल वरद-हस्त सिर पर रखा कि 'सब मैं ही करूँगा'—ऐसा कहे बिना वे नही रह सकते। वे अपने गुरु के सामने अपनी अभिलाषा व्यक्त करते है कि "मराठी भाषारूपी नगरी में ब्रह्मविद्या का सुकाल होवे और सब लोगो मे अध्यात्म लेन-देन का व्यापार चले। हे सद्गुरु-कृपा-दृष्टि रूपी माता! तू अपने कृपारूपी आँचल की छाया मुझ पर बनाए रख तो ग्रन्थ निरूपणादि सब मैं करूँगा।"

अथवा :

हे गुरु देव ! मेरी बुद्धिरूपी बेल को फैलाने, प्रफुल्ल करने और उसमें काव्यरूपी फल लगने के हेतु आप श्रेष्ठ वसंत ऋतु होवें, हे विश्वैक धाम ! जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रोदय से पूर्णिमा शोभा को प्राप्त होती है उसी प्रकार आप मुझे पूर्ण स्फूर्ति दें। ‡

ज्ञानदेव की प्रार्थना स्वीकार हुई और उन्हें गुरु प्रसाद भी मिला।

इतने बड़े ग्रन्थ-निर्माण करने वाले ज्ञानेश्वर की नम्रता का क्या वर्णन किया जाए। बालक के भोलेपन से वे श्रोताओं से विनती करते हैं: जो सिद्धांत प्रतिपादित हुआ उसे लें; उसमें जो कमी है मुझे

---

‡ ज्ञानेश्वरी १४।२१, २३।

वापस कर दें क्योकि मैं बालक के समान अज्ञान हूँ। आप लोगो से मेरी यह विनती है कि मेरे कहने में जो कमी है उसे आप पूरा कर लें और जो अधिक है उसे निकाल दें।‡ ऐसा विनय सम्पन्न, प्रतिभा सम्पन्न और स्वानुभव सम्पन्न कोई दूसरा ग्रंथकार मराठी साहित्य में तो हुआ ही नहीं; संसार में भी शायद ही मिले। द्राक्ष के सदृश रसाल और नक्षत्रों के सदृश तेजस्वी नौ हज़ार ओवियों की ज्ञानेश्वरी अपनी आयु के उन्नीसवें वर्ष में ज्ञानदेव ने रची—इसे अलौकिक कहा जाए अथवा ओवियो पर निछावर किए हुए अलंकार रत्नों की कान्ति को अलौकिक माना जाए, अथवा संसार से संत्रस्त हुए इस बाल-योगी ने अपने ग्रन्थ के अणु-अणु में मृदुलता और प्रसन्नता को ओतप्रोत भर दिया है उसे अलौकिक माना जाए। ज्ञानेश्वर के जीवन में यही तो सच्चा चमत्कार है कि इतना सताए जाने पर भी उस समाज के प्रति कहीं भी उन्होंने घृणा नहीं दिखाई।

समता

मग हा मशकु हा गजु। की श्वपचु हा द्विजु।
पैल इतरु हा आत्मजु। हें उरलें कें॥†

अर्थात् : यह मच्छर है किंवा हाथी है, यह अंत्यज है किंवा ब्राह्मण है, यह मेरा पुत्र है अथवा दूसरे का—यह भेद आत्मनिष्ठ ज्ञानी के पास शेष नहीं रहता।

दैवी सम्पत्ति के वर्णन में ज्ञानेश्वर ने जो दया के लक्षण वर्णन किये है उनसे ज्ञानदेव की समता का पूर्णाभास मिलता है :

जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से छोटे-बड़े सबको समान रूप से शांति प्रदान करता है उसी प्रकार दयालु

---

‡ **तरी न्यून तें पुरतें। अधिक तें सरतें।**
करूनि घेयावें हें तुमतें। विनवितु असें॥ ज्ञानेश्वरी १।८०

† ज्ञानेश्वरी अ. ५।९३।

मनुष्य अपने दयार्द्र अन्तःकरण से दुखित मनुष्यों के दुःखहरण करते समय यह नहीं देखता कि वह नीच है अथवा ऊँच, परन्तु सब ही के दुःख निवारण करता है। संसार में पानी के समान कौन-सी दूसरी वस्तु है जो सूखती हुई घास को जीवित रखने के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर देती है ?......जिस प्रकार बहता हुआ पानी अपने मार्ग में आये हुए गड्ढे को बिना भरे आगे नहीं जाता उसी प्रकार दयालु मनुष्य श्रमित मनुष्य को देख कर उसका संतोष किये बिना आगे नहीं बढ़ता। जिस प्रकार पाँव में काँटा चुभने पर प्राणी को वेदना होती है उसी प्रकार दूसरे को संकट में देख कर दयालु पुरुष का मन द्रवीभूत होता है अथवा जिस प्रकार पाँव का स्पर्श शीतल पदार्थ से होते ही आँखें शीतल होती हैं उसी प्रकार दूसरों को सुख में देख कर उसे सुख होता है, किंवा जिस प्रकार तृषित मनुष्य की प्यास बुझाने के लिए संसार में पानी का निर्माण हुआ है उसी प्रकार दयालु मनुष्य दुःखित मनुष्यों के दुःख हरण करने के लिए ही संसार में जीवित रहता है और वह दया की मूर्ति ही है।‡

अपैशून्य के लक्षण बताते हुए भी ज्ञानदेव ने इसी प्रकार का उल्लेख किया है :

व्याध से पीड़ित और चिन्ताग्रस्त रोगी को देख कर अच्छा वैद्य यह विचार नहीं करता कि यह अपना है या पराया वरन् उसका उचित उपचार करता है। कीचड़ में फँसी हुई गाय को बाहर निकालने के लिए मनुष्य यह नहीं सोचता कि यह दुधारू गाय है किंवा सूखी; डूबते हुए मनुष्य को देख कर दयावान मनुष्य यह नहीं सोचता कि वह ब्राह्मण है अथवा चांडाल, परन्तु उसके प्राण बचाने के लिए प्रयत्न करता है।†

एकनाथ ने भी दया का ऐसा ही वर्णन किया है। यथा—

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १६।१५४-१६१। † वही १६।१४१-१४३।

श्री ज्ञानेश्वर का भारत को योगदान

ज्ञानदेव ने एक कर्मठ समाज में जन्म लिया था जिसमें ब्राह्मणों का वर्चस्व था। ब्राह्मण अपने को सब विद्याओं का ठेकेदार समझते थे। वे दूसरों को धार्मिक ज्ञान का स्पर्श न होने देते थे। ब्राह्मण कहे सो धर्म। वे त्रिवर्णों को ही वेद का अधिकारी समझते थे। स्त्री और शूद्रादिक को वेद का अधिकार न था। उनकी स्थिति अत्यन्त लज्जास्पद और दयनीय थी। पंडित लोग अभिमान से कहते थे कि उन्हें मोक्ष का अधिकार ही नहीं है। उनका जन्म केवल सेवा के लिए हुआ है और इसलिए उन्हें ईश्वर से दूर रखा जाता था।

बहुजन समाज संस्कृत से अनभिज्ञ था और सब धर्मग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे अतः बहुजन समाज के लिए धार्मिक ज्ञान के दरवाजे सदा के लिए बन्द थे। समाज में अनेक देवी-देवताओं का मान बढ़ चुका था और अपने-अपने आराध्य देवता के अनुकूल समाज का विभाजन हो गया था जिसके कारण अपने ही धर्म में आपसी असहिष्णुता एवं विद्रोह का पौधा पनप रहा था। ऐसी विषम स्थिति में दो ही बातें संभव थीं :

ज्ञानदेव केवल द्रष्टा बन कर अपने को इन सब से तटस्थ रखते

अथवा

ऐसे समाज के कल्याण के लिए प्रयत्न करते।

ज्ञानदेव उन संतों में से न थे जो केवल अपने कल्याण के लिए संसार में जीवित रहना चाहते थे। उन्होंने अनेक धर्मग्रन्थों का अनुशीलन किया था, इसलिए उनमें समता की दृष्टि जागरूक थी। वे गीता के इस सिद्धान्त को मानने वाले थे कि जो समर्थ और सर्व ज्ञान सम्पन्न हैं उन्हें विशेषकर कर्मों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। अतः

उन्होने लोक संग्रहार्थ बहुजन समाज के लिए धार्मिक ज्ञान के दरवाज़े खोलने के लिए मराठी भाषा में अपने ग्रंथ लिखे और गीता को अधिक महत्त्व दे कर सब के लिए समान रूप से सुसेव्य बनाया तथा बहुदेव पूजन के स्थान पर उनकी एकता सिद्ध करके आपसी वैमनस्य को मिटा` का सफल प्रयत्न किया।

अगले पृष्ठो में ज्ञानदेव के लोकसंग्रह, देशी भाषा-मान, हरिहरैक्य, वैदिक धर्म-सुसेव्यता इत्यादि के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

लोकसंग्रह :

म्हणोनि समर्थ जो ऐथें। आथिला सर्वज्ञते।
तेणें सविशेषे कर्मातें। त्यजावेंना॥ ‡

जिन मनुष्यो को अब कुछ प्राप्त करना नही है उनको भी जन-साधारण के मार्ग-दर्शन के लिए कर्म करना ज़रूरी है। अन्धे को मार्ग बताने के लिए उसके साथ सँभल-सँभल कर चलना पड़ता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने आचरणों द्वारा अज्ञानी पुरुषों को धर्मस्पष्ट कर दिखाए। यदि ज्ञानी पुरुष ऐसा न करें तो अज्ञानी लोगों की समझ में क्या आ सकता है। इस संसार में बड़े लोग जो कर्म करते हैं उसे ही सामान्य लोग धर्म कहते हैं और उसी का आचरण करते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ना न चाहिए। सन्तो को इस पर विशेष सावधानी से आचरण करना चाहिए। †

परमार्थ के मार्ग में 'अपना ही कल्याण चाहना और कर्तव्य त्याग कर समाज के प्रति उदासीनता का व्यवहार करना'—ज्ञानेश्वर ने इसका

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ३।१६८।

इस ओवी का प्रतिबिम्ब नामदेव के अभंग मे पाया जाता है :

म्हणोनिया संतीं अवश्य आचरावे। जना दाखवावे वर्तोनिया॥४॥

[नामदेव अभंग ६९०]

† ज्ञानेश्वरी अ. ३।१५५-१५९।

निषेध किया है। तुकाराम के शब्दों में "जगत् का कल्याण ही सन्तों की विभूति है, परोपकार के लिए सन्त अपने शरीर को कष्ट देते हैं।"‡

ज्ञानदेव के श्रीकृष्ण अर्जुन को जैसा उपदेश देते हैं वैसा ही उपदेश एकनाथ के कृष्ण उद्धव को देते हैं :

हे उद्धव ! तुम्हारे बदरिकाश्रम जाने से संसार का भारी कल्याण होगा। तुम्हारे धर्माचरण से निश्चित ही दीनों का उद्धार होगा। तुम्हारा आचरण ही लोगों को उपदेश होगा अतः तुम वैराग्य, भक्ति, ज्ञान और स्वधर्म को मत छोड़ना। मैं अब अपने धाम को जाता हूँ इसलिए मैंने अपना पूर्ण आदर्श, लोक सग्रहार्थ तुम्हें बताया है, कारण कि तुम पूर्ण विरक्त हो।

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर जो स्वयं अपना उद्धार करता है, परन्तु दीनों का उद्धार नहीं करता वह पाखंडी है। स्वयं तर कर दूसरो को तारना—यह ज्ञान की अगाध महिमा है। इस महिमा को मैंने तुम्हें सोंप दिया। हे उद्धव ! तुम संसार के पीड़ित मनुष्यों का उद्धार करो†।

देशी भाषा का मान—

तोरें संस्कृताचीं गहनें। तोडोनि मऱ्हाटी शब्द सोपानें।
रचिलीं धर्म निधानें। श्री निवृत्ति देवें $॥

संस्कृत के कूल कठिन हो गये हैं। संस्कृत भाषा का पानी इतना नीचे चला गया है कि सामान्य जनता इस तक पहुँच नहीं सकती। नदी के किनारे से पानी तक पहुँचने के लिए कोई मार्ग नहीं अब इस पानी का उपयोग कैसे किया जाए। इस स्थिति में संस्कृत के कूलों

---

‡ **जगाच्या कल्याण संताच्या विभूति।**
देह कष्टविति उपकारे। **तुकाराम**

† एकनाथ भागवत २९।८०३, ८०४, ८०८, ८२०, ८२४।

$ ज्ञानेश्वरी अ. ११।९।

को देख कर धर्मनिधान श्री निवृत्तिनाथ ने इन किनारों को तोड़ कर मराठी की सीढ़ियाँ बनायी हैं और सुन्दर घाट बाँध दिया है, जिसकी सहायता से संस्कृत भाषा के रहस्य को समझने की लोगों को सुविधा हो गयी है ‡ ।

बसव और चक्रधर ने अपने मत के प्रसार के लिए देशी भाषा को स्वीकार किया। उनके इस गुण को ज्ञानदेव ने अपनाया। स्वयं संस्कृत भाषा के पंडित होते हुए भी उन्होंने आबाल सुबोध मराठी भाषा में अपने ग्रंथ लिखे। उनको मालूम हुआ कि लोगों में आत्म कल्याण की भूख है, परन्तु इस भूख को शान्त करने के लिए ऐसा पक्वान्न होना चाहिए जो सबके गलों से उतर सके और पेट में पहुँचने के पश्चात् पच सके। वास्तव में भारतवर्ष के सौभाग्य से उपनिषद् द्रष्टा ऋषियों ने हज़ारों वर्ष पूर्व ब्रह्म रस का इतना सुन्दर और अपरिमित पाक तैयार करके रखा कि वह न केवल इस देश के लोगों के लिए वरन् सारे संसार के लोगों के पेट को भर कर बच रहेगा; परन्तु काल के प्रभाव से संस्कृत का ह्रास होता गया, इसलिए जिस भाषा में उपनिषद् ग्रंथ रचे गये, उस भाषा से बहुजन समाज अपरिचित होता गया। वैदिक धर्म-रस से अपरिचित समाज धर्म बाह्य परन्तु सुबोध प्राकृत भाषा में जो कुछ सुनने और पढ़ने को मिलता था उसी की ओर खिचने लगा। अस्तु, धर्म ह्रास की इस मीमांसा को देख कर ज्ञानदेव ने आबाल सुबोध ओवी छद में तथा मराठी भाषा में अपने ग्रथ रचे।

गीता, हिन्दू धर्म ग्रंथों का अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। यह तीन हज़ार वर्षों से संस्कृत भाषा के आवरण से ढका हुआ था। सर्व सामान्य मनुष्यों को उसके दर्शन ही दुर्लभ थे, परन्तु ज्ञानदेव ने उस काल की परिपाटी को तोड़ कर गीता को इस आवरण से निकाल देशी भाषा मराठी के शुभ्र वस्त्रालंकारों से विभूषित किया। उन्होंने

---

‡ **नरहर रघुनाथ फाटक :** ज्ञानेश्वर, वाङमय आणि कार्य पृ. २४३।

ज्ञानेश्वरी द्वारा गीता के तत्त्वज्ञान को ग़रीब-अमीर, ब्राह्मण-शूद्र, नीच-ऊँच, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध के कानों तक अमृत की अपेक्षा अधिक मधुर अक्षरों में पहुँचाया जिसके कारण मराठी की नगरी में ब्रह्मविद्या का सुकाल हुआ। उस समय के पंडितों की समझ थी कि मराठी जैसी घरेलू भाषा में संस्कृत के गहन और सूक्ष्म तत्त्वज्ञान प्रकट करने की क्षमता ही नहीं है। यह मान तो देव भाषा संस्कृत को ही है। ज्ञानदेव ने अपनी कृति से इस शंका का समूल उच्छेद कर दिया। वे कहते हैं: 'इन अलौकिक शब्दों के बड़े-बड़े थाल बना कर, उनमें मोक्ष रस परोस कर मैंने निष्कामी जनों का इस ग्रंथ रचना रूपी आतिथ्य किया है'‡।

ज्ञानदेव के इस काम को एकनाथ ने और आगे बढ़ाया। वे कहते हैं कि भगवान् का गुणानुवाद किसी भी भाषा में किया जाए वे प्रसन्न होते हैं।

यथा—

संस्कृत में काव्य रचना करने वाले को महाकवि कहते हैं। भला देशी भाषा में क्या न्यूनता है कि इसमें रचना करने वाला हेय समझा जाए। सोने के फूल को क्योंकर नया अथवा पुराना कहा जा सकता है? कपिला गाय से प्राप्त दूध को दूध कहें तो क्या दूसरी गायों का दूध पानी है? मराठी और संस्कृत दोनों के वर्ण एक से हैं और समान रूप से मधुर है, फिर यह कहना कहाँ तक ठीक है कि संस्कृत वंद्य और प्राकृत निंद्य है! यह भी अभिमानवाद है और परमार्थ के लिए 'अभिमान' ठीक नहीं। भगवान् को किसी वाणी का अभिमान नहीं। उनके लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों समान हैं। श्रीकृष्ण तो ब्रह्म-निरूपण से संतोष पाते हैं चाहे उसका विवेचन किसी भाषा में हुआ हो।

---

‡ **हें असो तया बोलांचीं ताटें भलीं। वरी कैवल्य रसें वोगरलीं।**
ही प्रतिपत्ति मियां केली। निष्कामासी॥

ज्ञानेश्वरी अ. ६।२२

अथवा

मोतियों के लिए लोग समुद्र में गोते लगाते हैं। यदि घर की बावली में मोती मिल जाएँ तो उनको न लेने वाला मूर्ख है। जिस प्रकार रत्न पारखी को यदि मिट्टी में हीरा मिल जाए तो वह उसे गाँठ बाँध कर घर ले आता है, उसी प्रकार विद्वान् लोग मराठी ग्रंथ को देख कर चिद्रत्न प्राप्त करने के यत्न में उपेक्षा नहीं करते ‡।

नाथ महाराज आत्म विश्वास के साथ कहते है :

मेरी मराठी भाषा सुन्दर है, जिसमें परब्रह्म के फल फल रहे हैं †। संस्कृत में बहुत प्रयत्न करने पर भी परमार्थ कठिनाई से प्राप्त होता है; परन्तु वही मराठी द्वारा सुलभ है अतः ज्ञानी मनुष्य मराठी का प्रेमालिंगन करते हैं $।

संस्कृत की डींग मारने वाले कर्मठ पंडितों से चिढ़ कर उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि संस्कृत भाषा का निर्माण यदि देवताओं ने किया तो क्या मराठी का निर्माण चोरों ने किया है × ?

हरि हरैक्य

य. केशवं भजति निन्दति नील कण्ठ।
योवा शिवं भजति निन्दति वासुदेवं।
शास्त्रोक्ति तस्तु शिव केशवयोरभेदात्।
स्वामि द्रुहावित न सद्गति माप्नुयाताम ॥

---

‡ एकनाथ भागवत १।४९५-४९६; ४९८, ४९९।

† **माझी मराठी भाषा चोखडी। परब्रह्मे फळली गाढी।**

$ **तेवीं संस्कृत अटाटी। सहसा परमार्थी नव्हें भेटी।**
तेचि जोडल्या मराठी साठीं। तेथ घालती मिठी सज्ञान ॥

× **संस्कृत वाणी देवें केली। प्राकृत काय चोरापासून झाली।**
देखिए—R. D. Ranade : Mysticism in Maharashtra Page 257.

अर्थात् जो केशव का भजन करता है और नीलकंठ की निन्दा करता है, अथवा जो शिव का भजन करता है और वासुदेव की निन्दा करता है—वे दोनों अपने स्वामी के द्रोह के कारण सद्गति को प्राप्त नहीं होते।

जिस समय नाथ पन्थ की स्थापना हुई शैव और वैष्णव सम्प्रदाय बलवान थे। शैव विष्णु को, और वैष्णव शैव को गालियाँ देते थे। इस वैमनस्य के कारण इन दोनों सम्प्रदायों में अकारण ही झगड़े होते रहते। हिन्दू समाज इन झगड़ों के कारण प्रगति करने के बदले बौद्ध, जैन, मानभाव और लिंगायत जैसे अवैदिक पन्थों के पंजों मे फँसने लगा। नाथ पन्थ ने इन झगड़ों को मिटाने के लिए जिस मार्ग का अनुसरण किया ज्ञानेश्वर और अन्य संतों ने भी उसी पर अनुगमन किया। ‡

ज्ञानेश्वर कहते हैं : शिव जी ने जो मन में धारण किया था उसी का उपदेश गिरिजा को दिया। सब नामों में 'रामनाम' श्रेष्ठ है—इसे तुम भी अपने हृदय में धारण करो। †

भगवान् श्री शंकर अपनी प्रिय पार्वती को उपदेश करते हैं :

---

‡ नाथ पंथियों को यह पक्का विश्वास था कि देवताओं की आराधना के आधार पर यदि समाज का विभाग किया गया तो—समाज-संघटन की दृढता की दृष्टि से—राष्ट्र के लिए यह विभाजन घातक सिद्ध होगा। इसलिए वे जगह-जगह समाज में संकोच उत्पन्न करने वाले विशिष्ट देवताओं के माहात्म्य को नष्ट करने तथा जनता में ईश्वर विषयक सच्चे ज्ञान का प्रसार करने में प्रयत्नशील थे।

[**नरहर रघुनाथ फाटक** : श्री ज्ञानेश्वर: वाङमय आणि कार्य पृ० २७–२८।]

† **जे शंभूनें धरिलें मानसी। तेंचि उपदेशिलें गिरजेसी।**
नाम बरवें बरवें। निज मानसी धरायें॥ (ज्ञानेश्वर गाथा)

हे पार्वती ! परमानन्द स्वरूप जो रामचन्द्र हैं उनका ध्यान करती रहो। श्री हरि के नाम 'विष्णु सहस्त्र नाम' से प्रसिद्ध हैं; परन्तु उनमें 'राम नाम' मुकुट है। इसी नाम का स्मरण नित्य करो। राम नाम का नित्य स्मरण करना ही तुम्हारे लिए नित्य कर्म और परम धर्म है। परब्रह्म-प्राप्ति का मुख्य साधन है—'श्री राम नाम का चिंतन'। श्रीराम सब जीवों के प्राण अथवा आत्मा हैं। वे मनमोहन, सुख के साधन और भक्ति व ब्रह्मज्ञान के अजन हैं। ‡

एकनाथ ने भी अपने एक अभंग में इसी बात को दुहराया है। वे कहते है : ध्यानस्थ हो कर शंकर सार रूप राम नाम जपते हैं। पार्वती बड़ी श्रद्धा से शिव जी से पूछती हैं : "भगवान् आप क्या जपते हैं ? वह मंत्र मुझे भी बताइए।" यह सुन कर शिव जी ने पार्वती को एकान्त में 'राम नाम' का उपदेश दिया। इसी ज्ञान को मत्स्येन्द्र ने प्राप्त किया और उनसे यह परम्परा आगे चली। यही ज्ञान एकनाथ को प्राप्त हुआ। †

एकनाथ ने भावार्थ रामायण में 'राम नाम' के उद्गम का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है—देव, दानव और मानव में एक बार झगड़ा हुआ। देव कहने लगे कि रामायण का अधिकार हमारा है। दानव और मानव भी अपने-अपने स्वत्व बतलाने लगे। आख़िर में ये सब मिल कर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने इन सबको शिव जी के पास भेज दिया। शिव जी ने शत कोटि रामायण को बराबर-बराबर सबको बाँट दिया और एक शब्द 'राम' स्वयं ले लिया। $

---

‡ ज्ञानेश्वर गाथा अ. १५२। † एकनाथ गाथा अ. १८८९।

$ **संख्या शत कोटी समस्त। श्रीरामायण मूल ग्रंथ।**
सुर नर पन्नग यथार्थ। कलह करी तपें आले॥
(भावार्थ रामायण अरण्य कांड २०।१२१)

तुलसीदास ने भी अपने ग्रंथ में शत कोटि रामायण का संकेत किया है। इन शत कोटि रामायणों में से शिव जी ने 'राम नाम' को धारण किया है और इसी का उपदेश पार्वती जी को किया है। ‡

श्री कृष्ण का शिव जी के प्रति आदरभाव

यदि शिव जी विष्णु की महिमा वर्णन करते हैं तो विष्णु शिव का आदर करके विष्णु और शिव के भेद को मिटा देते हैं। ज्ञानदेव ने इसी ध्येय से अपने इष्ट देव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है :

गोप वेश धारी श्रीकृष्ण अत्यन्त मनोहर हैं। उनके विशाल नेत्र सुन्दर व सुखद हैं। श्रीकृष्ण ने शिव जी की महिमा बताने के लिए शिव लिंग को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। †

श्रीकृष्ण शिव लिंग को मस्तक पर धारण करते हैं तो शिव जी चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करते हैं।

चन्द्रमा प्रतिमास के कृष्ण पक्ष में क्षीणता को प्राप्त होता है। इस क्षय से पीड़ित हो तथा भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य से लज्जित हो उसने भगवान् के चरणों में शरण ली। श्रीकृष्ण के चरण-नख के स्पर्श से वह परम पवित्र हो गया। यह जान कर शिव जी ने चन्द्रमा और नख निर्गता गंगा को सिर पर धारण किया जिसके प्रभाव से वे संसार का

---

‡ नाना भाँति राम अवतारा। रामायन शत कोटि अपारा॥
राम चरित सत कोटि अपारा। स्रुति सारदा न बरनइ पारा॥
राम नाम सत कोटि महँ। लिय महेस जिय जान॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ उमासन भाखा॥

† रूप पहातां तरी डोळसु। सुंदर पहातां गोप वेषु।
महिमा वर्णितां महेशु। जेणें मस्तकीं वन्दिला॥

उद्धार करते हैं। शिव जी परम कृष्ण भक्त हैं अतः वे कृष्ण के चरणों से पुनीत वस्तु को शिरोधार्य मानते हैं। ‡

शिव की महिमा

ज्ञानदेव कहते हैं :

यदि शंकर श्रीगुरु होवें तभी भक्ति-तत्त्व के आदर करने का प्रकार मालूम हो सकेगा; परन्तु शंकर के वर्णन करने से आत्म स्तुति होगी अतः अधिक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं।

शंकर ने मेरे चरणोदक को मस्तक पर धारण कर अपनी भक्ति मेरे प्रति व्यक्त की है। इसलिए यह कथन कि गुरु मेरा चरणोदक धारण करने वाला हो अप्रत्यक्ष रूप से आत्म स्तुति होगी। हे अर्जुन! मैं शिव जी को अपने मस्तक पर धारण करता हूँ कारण कि वे भक्ति के मार्ग से संसार को मोक्ष देते है। वे मोक्ष के अधिकारी हैं और मोक्ष का व्यवहार चलाते है। इतने समर्थ होते हुए भी वे पानी की तरह नम्र हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। मेरी यह इच्छा है कि मैं उन्हें अपने सिर पर मुकुट की तरह धारण करूँ और उनके पैरो को अपने हृदय पर। अपनी वाणी से उनके गुण गांऊँ, कान से उनकी कीर्ति सुनूँ। उनके दर्शन के लिए मैं नेत्र हीन होते हुए नेत्र धारण करता हूँ और अपने हाथ के लीला रूप कमलों से उनकी पूजा करता हूँ। उनका आलिंगन करने के लिए मुझ देह रहित को देह धारण करनी पड़ती है। कहाँ तक कहूँ शिव जी मुझे इतने प्रिय हैं कि इसकी कोई उपमा ही नहीं। उनकी मेरी मैत्री है। इसमें कोई आश्चर्य की बात

‡ **चंद्र कृष्ण पक्षीं क्षीण। तेणें ठाकिले हरिचरण।**
नखीं चंद्र जडोनियां जाण। परम पावन तो झाला।
हें जाणोनि त्रिनयनें। चंद्रमा मस्तकी धरणें।
पायवणी माथां वाहणें। जग उद्धारणें तेणें झालें॥
(एकनाथ भागवत ११।१४८५-१४८६)

नहीं। इतना ही नहीं वरन् जो शिव के चरित्र सुनते है अथवा उनके भक्तों के चरित्रों का वर्णन करते हैं वे भी मुझे प्राणों से अधिक प्रिय हैं।‡

देखिए, ज्ञानेश्वरी के उक्त वर्णन में और महाभारत के नीचे के वर्णन में कितना साम्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं :

मैंने नारायण और रुद्र प्रसादज और क्रोधज रूप में निर्माण किये। रुद्र उग्र व्रत का आचरण करने वाले योगी है। वे नारायणात्मक हैं। उनकी पूजा जिसने की उसने मानो मेरी सेवा की। मैं सब लोकों की आत्मा हूँ अत: मेरी आत्मा जो रुद्र हैं उनकी मैं पूजा करता हूँ।... यदि शिव जी की पूजा न करूँ तो आत्म-पूजन न हो सकेगा।...मुझे जो जानता है वह रुद्र को भी जानता है।...जो रुद्र को जानता है वह मुझे भी जानता है। द्विविधरूप शिव और विष्णु एक ही सत्य स्वरूप हैं। विष्णु अपनी आत्मा के सिवाय किसी की पूजा नहीं करते, इसलिए मैं शिव की पूजा करता हूँ।†

ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता

यद्यपि गीता में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पुराण कथा नहीं पायी जाती तथापि ज्ञानेश्वरी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की एकता का वर्णन है :

हे अर्जुन ! सृष्टि के उत्पत्ति-काल में जिसे हम ब्रह्मा कहते हैं, स्थिति-काल में जिसे विष्णु कहते हैं और लय करते समय जिसे रुद्र कहते हैं उसे ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के लोप होने पर प्रकृति शून्य कहते हैं।$

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १२।२१६-२२७। † शान्ति पर्व ३५०।२१-३०।

$ **अगा सृष्टि वेळे प्रियोत्तमा। जया म्हणती ब्रह्मा।**
स्थिती जें विष्णु नामा। पात्र जाहलें ॥
मग आकार हा हारपे। तेव्हां रुद्र जें म्हणिजे।
तेंही गुण त्रय जेव्हां लोपे। तें जें शून्य ॥

(ज्ञानेश्वरी अ. १३।९२४-९२५)

भगवान् अपनी लीला से लोक संग्रहार्थ गुण कर्मानुसार, ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अवतार धारण करते हैं। उत्पत्ति के समय ब्रह्मा, स्थिति के समय विष्णु और प्रलय के समय शिव कहलाते हैं अर्थात् ब्रह्मा रचता है, विष्णु पालता है और शिव नाश करता है ‡।

तुकाराम ने कहा है कि शिव की भक्ति करो चाहे विष्णु की। शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है †।

कबीर के मतानुसार राम का रजोगुणी रूप ब्रह्मा है, तमोगुणी रूप शंकर है और सतोगुणी रूप विष्णु है $।

---

‡ ऐसा जो कां भगवंत। स्वलीला लोक संग्रहार्थ।
ब्रह्मा, विष्णु शिव समस्त। अवतार धरीत गुण कर्में।
उत्पत्ति काळीं चतुरानन। तोचि स्थिति काळीं विष्णु जाण।
तोचि प्रळयी त्रिनयन। नामाभिधान गुण धर्में ॥
[भावार्थ रामायण सु. कां. २२।१८-१९]

अथवा

त्रिगुण गुणी गुणावतार। ब्रह्मा आणि हरिहर।
तिहीं मीच साचार। चराचर करी हरीं।
सृष्ट रूपें मी सृजता। विष्णु रूपें मी प्रतिपाळिता।
रुद्र रूपें मी संहर्ता। जाण तत्वतां मीचि एक।
[एकनाथ भागवत ११।६०५-६०६]

† तुका म्हणे भक्ति साठीं हरिहर। हरिहरा भेद नाहीं नका करूं वाद ॥
[तुकाराम गाथा अ. २९४]

$ रजगुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत गुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक राम जपहुरे, हिंदू तुरक न कोई।
[कबीर ग्रंथावली १०६।५७]

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिव ।
यथा शिव मयो विष्णु स्तथा विष्णुमयः शिवः ।।

"जो पुरुष विष्णु का भजन करता है और शिव से द्वेष करता है, वह पतित होता है। जो शिव की पूजा करता है और विष्णु से द्वेष करता है, उसके घर में यम का वास होता है। जो विष्णु की कथा सुनता है, परन्तु शिव की निन्दा करता है उसे वैकुंठ में स्थान नही मिलता। नामदेव कहते है कि शिव-विष्णु एक ही है। वेद कहते हैं कि आत्मा ही ब्रह्म है ‡।"

एकनाथ कहते हैं : विष्णु शिव के ध्येय हैं। शंकर विष्णु के हृदय हैं। इन दोनों में जो भेद-भाव रखता है, उसकी दुर्दशा होती है। ब्रह्मा से ले कर चींटी तक चराचर में शिव व्यापक है। विष्णु शंकर के बाह्य और अन्तर मे विराजमान है। दोनों में भेद नहीं है। विष्णु शिव के हृदय है। शिव विष्णु के अन्तर-बाह्य विराजमान हैं। मनुष्यो को चाहिए कि शिव और विष्णु के भेद को छोड़ कर दोनो को एक समझें † ।

---

‡ **विष्णुसी भजला शिव दुराविला। अधः पात झाला तया नरा।**
शिव पूजा करी विष्णुंसी अव्हेरी। तयाचिये घरीं यम नांदे।
विष्णु कथा ऐके शिवासी जो निंदी। तयासी गोविंदीं ठाव नाहीं।
'नामा' म्हणे असती शिव विष्णु एक। वेदाचा विवेक आत्माराम।
[नामदेव अ. १८४५]

† **विष्णु शिवाचें निज ध्येय शंकर विष्णूचें हृदय।**
उभयासि जो भेद पाहे। दुर्दशा लाहे नवल कोण।
ब्रह्मा धरोनि मुंगीवरी। शिव व्यापक चराचरीं।
विष्णु शंकरा बाह्यांतरीं दोघां माझारीं भेद नाहीं।
विष्णु शिवाचें हृदय। शिव विष्णूचे अन्तर बाह्य।
निज देहासि निश्चय पाहे। भेदाची सोय सांडूनी।
[भावार्थ रामायण युद्धकांड]

तुलसीदास ने भी राम और शिव का पारस्परिक प्रेम और भक्ति का वर्णन किया है। शिव जी द्वारा राम की भक्ति के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

(१) उस समय महादेव जी रामचन्द्र जी को देख कर बहुत प्रसन्न हुए। छवि के सागर श्री रामचन्द्र जी का उन्होंने नेत्र तृप्त कर दर्शन किया, परन्तु कुसमय समझ अपना परिचय नहीं दिया। हे सच्चिदानन्द ! हे जगत को पवित्र करने वाले ! आपकी जय हो। यह कह कामदेव को भस्म करने वाले महादेव जी वहाँ से चल दिये ‡।

(२) शिव जी ने जब राम नाम उच्चारण किया तब सती ने जाना कि जगत पति शिव जी ने अपनी समाधि भंग की है†।

(३) शिव जी ने राम से कहा कि यद्यपि ऐसा करना ठीक नहीं तथापि स्वामी की वात टालनी भी ठीक नही। हे नाथ ! आपकी आज्ञा को सिर पर रख कर पालन करना हमारा परम धर्म है $।

अब शिव जी के प्रति राम की भक्ति के कुछ भाव देखिए :

(१) लिंग की स्थापना कर और वेद विधि से पूजन कर श्री रघुनाथ जी बोले कि शिव जी के समान प्यारा मुझे दूसरा नहीं है। शिव जी से द्रोह कर यदि मेरा दास बनना चाहे तो वह मनुष्य मुझे सपने में भी नहीं भाता। शंकर से विमुख हो कर जो मनुष्य मेरी

---

‡ **शंभु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हिय अति हर्ष विशेखा।।**
भरि लोचन छबि सिन्धु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी।।
जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चले मनोज नसावन।।

† **राम नाम शिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगत पति जागे।।**

$ **कह शिव यदपि उचित अस नाहीं। नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं।**
सिर धरि आयुस करिय तुम्हारा। परम धर्म यह नाथ हमारा।

भक्ति चाहते हैं, उन्हें मूर्ख समझना चाहिए। उनकी बुद्धि बड़ी मन्द और थोड़ी है ‡ ।

(२) जो शंकर का प्रिय हो और मेरा द्रोही हो अथवा मेरा दास हो और शिव जी से द्वेष करता हो—ऐसे दोनों मनुष्य एक कल्प भर घोर नरक में बास करते हैं । †

(३) याज्ञवल्क्य मुनि ने भरद्वाज से कहा कि जिनको शिव के चरण कमलों में भक्ति नहीं है वे श्रीराम को स्वप्न में भी अच्छे नहीं लगते । बिना छल प्रपंच के विश्वनाथ के चरणों में भक्ति होना ही श्रीराम भक्त की पहचान है । श्रीराम जी के व्रत का रखने वाला शिव जी से बढ़ कर और कौन है जिन्होंने बिना किसी पाप के सती को त्याग दिया । प्रतिज्ञा पूर्वक श्रीराम की भक्ति पर दृढ रहे—ऐसा शिव के समान प्यारा श्रीराम को और कौन है ? $

---

‡ लिंग थापि विधिवत करि पूजा। शिव समान प्रिय मोहिं न दूजा।
शिव द्रोही मम दास कहावै । सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावै ।
शंकर विमुख भक्ति चह मोरी। सो नर मूढ़ मंद मति थोरी ।।

† शंकर प्रिय मम द्रोही । शिव द्रोही मम दास ।।
ते नर करहिं कल्पभरि । घोर नरक महँ बास ।।

$ शिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं।
बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू । राम भक्त कर लक्षण येहू ।।
शिव सम को रघुपति व्रत धारी। बिनु छल तजी सती अस नारी ।।
प्रण करि रघुपति भगति दृढाई । को शिव सम रामहिं प्रिय भाई ।।

ामाजिक कार्य

पैं अहिता पासूनि काढिती । हित देउनी वाढविती ।
नाहीं गा श्रुति परौती । माउली जगा ॥‡

अर्थात्,

अहित से छुडाने वाली और कल्याण करने वाली श्रुति के समान दूसरी माता संसार में नही है ।

यह देख कर कि वैदिक धर्म सागर में भाटा लाने वाले धर्म पंथ अपने चारों ओर ज़ोर पकड़ रहे है और दिन प्रति दिन वेदों के प्रति आदर और प्रेम कम होता जा रहा है, ज्ञानदेव ने अपने ग्रंथों में वेदों का महत्त्व गाया है । वे अच्छी तरह जानते थे कि संसारी जीवों के कल्याण के लिए वैदिक औपनिषदीय अध्यात्म ज्ञान की आवश्यकता है । उन्होंने वैदिक आचार और तत्त्वज्ञान के प्रति आदर व्यक्त कर लोगों को वैदिक आज्ञा शिरसावंद्य करना सिखाया । वेदों पर आदर और प्रेम व्यक्त करने के लिए ज्ञानदेव ने जो ओवियाँ लिखी हैं उनमें से कुछ का भावार्थ नीचे दिया जाता है :

अर्जुन ! जिसे अपने कल्याण की इच्छा है उसे वेदों की बतायी हुई बातों की अवहेलना न करनी चाहिए † ।

उस मनुष्य को स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता जो सबके गुरु वेद की आज्ञा पालन नहीं करता । इस संसार में वेद सब पर समान कृपा करने वाले हैं । वे दीपक के समान हित और अनहित करने वालों को समान उजाला देते है $ ।

हे पार्थ । सब पुरुषार्थों के स्वामी होने की जिसकी इच्छा है उसे श्रुति और स्मृति दोनों को शिरसा वंद्य मानना चाहिए × ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १६।४६२ । † वही अ. १६।४५५ । $ वही अ. १६।४४६ । × वही अ. १६।४५९ ।

शास्त्र ने जिसे त्याज्य समझा है उसे छोड़ देना चाहिए चाहे राज्य ही क्यों न हो, और जिसे सेवन करने की आज्ञा दी है उसे लेना चाहिए चाहे मारक विष ही क्यों न हो‡ ?

ब्रह्म देव ने मनुष्यों से कहा कि मैंने वर्णानुसार उन्हें स्वधर्म बताया है। इसका आचरण करो तो तुम्हारे मन की इच्छाएँ अपने आप पूर्ण हो जाएँगी ।

ब्राह्मण चारों वर्णों में छत्र और चामर की तरह सबसे उच्च हैं। उन्हें निर्वाह के लिए स्वर्ग इनाम में दिया गया है। वे वेदों की मंत्र विद्या के निधान है। वे पृथ्वी पर के देवता हैं, तप के अवतार है और सब तीर्थों के लिए तीर्थ-रूप में उदय हुए हैं$ ।

उपरोक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि ज्ञानदेव वैदिक वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणों के वर्चस्व में कितनी आस्था रखते है, तथापि वे शूद्रों को अवैदिक नहीं मानते। ज्ञानदेव ने वैदिक धर्म का संग्राहक स्वरूप प्रतिपादन करने का जो प्रयत्न किया है उसका निदर्शक एक प्रसंग ज्ञानेश्वरी में आया है :

क्षत्रिय और वैश्य—ये दोनों वर्ण वैदिक धर्म करने के अधिकारी हैं इसलिए उन्हें ब्राह्मण के समान मानना चाहिए। हे धनंजय ! चौथा जो शूद्र वर्ण है उसे वेद का अधिकार नहीं, परन्तु उसकी सेवा वृत्ति इन तीनों वर्णों के अधीन है। ब्राह्मणादि तीन वर्णों की सेवा वृत्ति के सान्निध्य से शूद्र को भी चौथे वर्ण में गिना गया है। जिस प्रकार फूल की संगति से धागे को भी श्रीमन्त सूंघा करते हैं उसी प्रकार श्रुति द्विजों की संगति के कारण शूद्रों को स्वीकार करती है × ।

---

‡ वही अ. १६।४६० । † ज्ञानेश्वरी अ. ३।८८। $ वही अ. ९।४७७। × वही अ. १८।८१५-८२२ ।

एकनाथ और अन्य महाराष्ट्रीय संतों ने भी वेदों के प्रति उतना ही आदर व्यक्त किया है जितना कि ज्ञानदेव ने। एकनाथ ने चारों वर्णों की उत्पत्ति का क्रम पुरुष सूक्तानुसार माना है :

विराट् पुरुष से चारों आश्रम और चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई। मुख से वेद के ज्ञाता ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई, बाहु से क्षत्रिय, उर से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए ‡।

जो मनुष्य जिस वर्ण और आश्रम में है उसे उसी वर्णाश्रम विहित धर्म का पालन करना चाहिए। अपने से अन्य वर्णाश्रम धर्म का आचरण करने वाला मनुष्य परम दुःख को प्राप्त होता है। मानव अपने-अपने धर्म को पालन करने से परम गति और भगवद् भक्ति को प्राप्त होता है †।

उपरोक्त तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए नाथ महाराज ने दो-तीन समीचीन दृष्टांत दिये हैं :

भोजन मुख का व्यापार है। जो मुख के बदले नाक से भोजन करने का प्रयत्न करेगा उसका मुख नष्ट हो जाएगा और उसे दारुण दुःख भोगना पड़ेगा। क्या पाँव के बदले सिर के बल चलने से मार्ग क्रमण हो सकेगा? कदापि नहीं। उसे तो अधिक ही कष्ट होगा। इसी प्रकार अधिकारानुरूप कर्मों को सादर करने में सुख प्राप्त होता है और अनधिकार रूप कर्मों को करने से दुर्धर दुःख भोगना पड़ता है $।

इस प्रकार की अन्य ओवियाँ भी नाथ भागवत में विपुल पायी जाती हैं जिनसे वर्ण व्यवस्था का गौरव प्रकट होता है।

ब्राह्मण वर्ण से संत्रस्त तुकाराम भी वर्ण भेद को स्वीकार करते हैं :

---

‡ एकनाथ भागवत ५।४५-४६। † वही १०।४५। वही १७।२। $ वही २१।३६-३८।

'यदि गधी दूध दे तो भी क्या वह गाय के समान हो सकती है ? कौवे की गर्दन को फूलों से अलंकृत करने पर भी क्या वह हंस की बराबरी कर सकता है ? बन्दर स्नान कर मस्तक पर तिलक लगा कर बैठ जाए तो क्या वह ब्राह्मण की योग्यता को प्राप्त कर सकता है ? ब्राह्मण चाहे अपने आदर्श से गिरा हुआ हो तो भी पूज्य है ‡ ।'

एकनाथ, तुकाराम आदि संतों की उपरोक्त वाणी को समझने के लिए हमें आचार्य भगवद्दत्त के स्पष्टीकरण की ओर ध्यान देना चाहिए । उनका मत है कि मनुष्यों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानने के कुछ कारण हैं :

वेद आर्य जाति का सबसे बड़ा कोष है । ब्राह्मण वेद को कण्ठस्थ रखता था, वेद को पढ़ाता था, इसलिए वह आर्यो के लिए अत्यन्त मान्य होता था † ।

जो आधुनिक ग्रथकार पुराने आर्यों को ब्राह्मणो के आधिपत्य के नीचे दबा हुआ मानते हैं, उन्होंने आर्य जाति के भाव को नहीं समझा । आर्य लोग विद्या-बल को सब बलों में सर्वोपरि मानते थे और ब्राह्मण में वह बल पूरे रूप से पाया जाता है $ ।

प्राचीन शास्त्रों में शूद्र की बड़ी निन्दा पायी जाती है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आर्य लोग शूद्रों के विरोधी थे । आर्य सभ्यता में शूद्र उसी को कहा गया है, जो यत्न किये जाने पर भी पढ़-लिख न सके, मूर्ख का मूर्ख रहे ।

'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंच सम'

---

‡ तुकाराम अभंग २२२३ । R. D. Ranade: Mysticism in Maharashtra. P. 327 । † आचार्य भगवद् दत्त : वैदिक वाङमय का इतिहास भाग २; पृ० २१६ । $ वही पृ० २१८ ।

वह संसार में किसी प्रकार भी उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे आदमियों के काम तो दूसरों की सेवा और उदरपूर्ति ही है‡।

शूद्र के संबंध में कहा गया है :

"वह पाँव वाला चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए जिस प्रकार श्मशान मे स्वाध्याय वर्जित है, वैसे ही शूद्र के समीप नहीं पढ़ना चाहिए।"—इसका भाव तो यही था कि शूद्र को वेद का उपदेश सुनाने का कोई लाभ नही। मध्यम काल के तंग दिल लोगों ने यह ही समझ लिया कि यदि वेद पढ़ने वाले के पास से भी कोई शूद्र निकल जाए तो शूद्र को दड देना चाहिए—यह भाव नवीन स्मृतिकारों का है, वैदिकों का नही। अज्ञानी होने से ही शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं है†।

चारों वर्ण साधारणतया जन्म से ही माने जाते थे; परन्तु जन्म से वर्ण, एक कड़ा नियम न था। तप से, ज्ञान से, घोर परिश्रम से, एक अब्राह्मण भी ब्राह्मण वन सकता था। इसी प्रकार विद्या और गुण हीन एक ब्राह्मण भी नाम मात्र का ही ब्राह्मण रह जाता था $।

ईश्वर भक्ति में कुल नहीं जाति नहीं

येरहवीं दैत्य कुळ साचो कारें। परि इंद्र हो सरी न लाहे उपरे।
म्हणोनि भक्तिगा एथ सरे। जाति अप्रमाण× ॥

अर्थात्—

प्रह्लाद का जन्म दैत्य कुल में हुआ था, परन्तु भक्ति के कारण इंद्र भी उसकी महिमा को न पा सका। भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं।

---

‡ आचार्य भगवद् दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २; पृ० २२०। † वही पृ० २२०। $ वही पृ० २२१। × ज्ञानेश्वरी अ. ९।४५२।

जब तक बहता हुआ पानी गंगा में नहीं मिलता उसे नाला, झरना, नदी आदि कहते हैं। गंगा में मिलने के बाद सब गंगामय हो जाता है। लकड़ियों को अग्नि में डालने के पहले ही उनमें खैर, चन्दन आदि का भेद होता है। अग्नि में डालने से सब एक रूप हो जाती है। उनमें कोई भेद नहीं रहता। उसी प्रकार जब तक भक्त मुझसे नही मिलता तभी तक क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि भेद रहते हैं। मुझमें मिलने के बाद वे मुझसे इस प्रकार समरस हो जाते है जिस प्रकार नमक समुद्र में घुल कर एक रूप हो जाता है। अतः जाति, कुल, वर्ण निरर्थक हैं। भगवान् में मन लगाना ही महत्त्व की बात है‡।

एकनाथ कहते हैं :

जन्म के पहले बालक का न कोई वर्ण होता है, न आश्रम और न जाति। जन्म होने के पश्चात् बालक अभिमान से यह समझने लगता है कि यह मेरा कुल, गोत्र अथवा वर्ण है। वास्तव में सब प्राणियों में एक ही आत्मा है और सब समान है। बायें हाथ के पदार्थ को यदि सीधे हाथ में दिया जाए तो क्या लेने वाले, देने वाले से पृथक् होता है† ?

अथवा

लोक व्यवहार मे दांभिक प्रतिष्ठा छोड़ कर शुद्ध भाव से जो मेरे भजन में व्यस्त रहता है वह जाति से चाहे चांडाल ही क्यों न हो तो भी वह मुझे अत्यन्त पूज्य है। अपावन रीछ, बन्दर तथा छाछ पीने वाले और वन में फिरने वाले ग्वालों के बालकों को मैंने पूज्य माना। जो नीच योनि में जन्मा है, परन्तु भक्ति भाव से मेरे स्वरूप को प्राप्त हुआ है, वह त्रैलोक्य में पूज्य है। धिक्कार है ऐसे ब्राह्मण की पवित्रता को जो मेरे भजन से विमुख है। भजन से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ९।४५५-४६१। † एकनाथभागवत अ. २।७१७-७३९।

मेरे भजन में तत्पर चांडाल श्रेष्ठ है। ऐसा चांडाल पुराणों और पण्डितों की दृष्टि में आदरणीय है। भगवान् कहते हैं : हे उद्धव ! विदुर दासी पुत्र होते हुए भी मुझे प्रिय हैं। इसलिए परमार्थ साधन में जाति का अभिमान उपयोगी नहीं‡।

भक्त तो यही समझता है कि नीच-ऊँच असंख्य जातियाँ सब मेरी ही जाति हैं। गंगा के तीर पर अनेक गाँव होते है, परन्तु गंगा ऐसा नही कहती कि उनमें से मेरा एक ही गाँव है†।

तुकाराम का भी यही मत है कि ईश्वर भक्ति में कुल नही, जाति नहीं, "वह कुल और देश पवित्र है, जिसमें भक्त अथवा भगवान् का दास जन्म लेता है। भक्त अपने प्रभु की सेवा मे तत्पर रहते है और उनके कारण तीनों लोक पावन होते हैं। वर्णाभिमान से कोई मनुष्य पावन नहीं होता। अंत्यज और वर्ण-बाह्य मनुष्य भी भक्ति मार्ग से भवसागर पार कर चुके हैं और पुराणों ने उनके यशोगीत गाये हैं। गोरा कुम्हार, रोहिदास चमार, कबीर जुलाहा, सेना नाई, कान्होपात्रा वेश्या, चोखा मेला और जनाबाई ने भक्ति द्वारा भगवान् को प्राप्त किया। वेद और शास्त्र का मत है कि ईश्वर-सेवा के लिए वर्ण का कोई महत्त्व नहीं। ईश्वर-भक्ति से अपवित्र मनुष्य पवित्र हो जाते है$।

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है।
श्वपचों को भी भक्ति भाव से शुचिता कब तज सकती है।
अनुभव से कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में।
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में×॥

---

‡ **एकनाथ** : भागवत १४।२८९-२९४ । † वही २।७०२।
$ **तुकाराम** अभंग, ३२४१ । R. D. Ranade Mysticism in Maharashtra Page 326, 327. × **तिलक** : गीता रहस्य पृ. ४३९ ।

वर्ण बाह्य मनुष्य जो भगवान् के नाम से प्रेम करता है यथार्थ मे ब्राह्मण है। धृति, क्षमा, दया और शौर्य उसमें वास करते है। जब षड्रिपु मनुष्य के मन को छोड़ देते है तो वह ब्राह्मण-तुल्य हो जाता है।

वेद से गीता का श्रेष्ठत्व

म्हणौनि वेदाची सुसेव्यता। ते हे मूर्त जाण श्रीगीता।
श्री कृष्णें पंडसुता। उपदेशिली‡ ॥

अर्थात्

यह गीता जिसका स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया वेद के सुसेवन करने योग्य है।

ज्ञानदेव ने वेद का समुचित आदर किया तथापि उन्होने यह महसूस किया कि वेदो मे एक न्यूनता है कि वे स्त्री-शूद्रादिकों को सुसेव्य नही हैं। अत: वे कहते हैं :

इस प्रकार सात सौ श्लोक संख्या का श्रीमद्भगवद्गीता ग्रथ मूर्तिमंत वेद ही है जो अपने औदार्य प्रदर्शन के कारण वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यह सच है कि वेद संपन्न है, परन्तु उनके समान कृपण दूसरा कोई नहीं क्योकि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों को ही वेद का अधिकारी समझते है। इनके अतिरिक्त स्त्री-शूद्रादिक जीव जो संसार में पीड़ित पड़े हैं, उनके प्रवेश के लिए वेद का मार्ग बन्द है। अत: अपनी इस कमी को दूर करने के लिए और सत् कीर्ति प्राप्त करने के हेतु वेदो ने गीता रूप धारण कर सब के लिए अपने दरवाज़ें खोल दिये हैं†।

ज्ञानदेव ने वेद की न्यूनता का जैसा वर्णन किया है वैसा ही वर्णन एकनाथ ने किया है। यथा—

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १८।१४६६। † वही अ. १८।१४५६-१४५९।

वेद अत्यन्त कृपण हैं, क्योंकि वेदों को सुनने का अधिकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन ही वर्णों को है। स्त्री-शूद्रादि को वेद के पढ़ने और सुनने का अधिकार नहीं है। वेदों की इस कमी को भागवत ने दूर किया। भागवत का अधिकार सब को समान है। स्त्री शूद्र अंत्यज सभी का उद्धार हरिनाम से होता है‡।

ज्ञानेश्वर ने वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया, परन्तु उन्होंने वैदिक परम्परा के त्याज्य भाग को सुधार कर वेद मार्ग की प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयत्न किया। एक नाथ ने भी उन्हीं के मार्ग पर अनुगमन किया। कबीर वर्ण व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे और उन्होंने अपनी सधुक्कणी भाषा में इस पर कठोर आघात किया। वे जातिगत समानता के पक्ष-पाती थे। वे शूद्रों को अन्य वर्णों और ब्राह्मणों से पूर्णतः समान मानते थे। कबीर उन्नत वर्णों और विशेष कर ब्राह्मणों के प्रति अति निष्ठुर थे। उनका कहना है कि यदि ब्राह्मण शूद्रों से स्वभावतः बड़ा है तो वह भी संसार में उसी अपवित्र मार्ग द्वारा क्यों आया करता है? ब्राह्मण की धमनियों में दूध नहीं बहता जहाँ शूद्रों में रक्त-प्रवाह होता है। इस प्रकार का गौरव उन्नत जाति वाले अपने आप आरोपित करते है, जो झूठा है। ईश्वर यदि ब्राह्मण को उच्च वर्ण के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता तो उसके ललाट पर जन्म से ही तीन तिलक बना कर उसे भेजता। कबीर के मतानुसार ब्रह्म का विचार करने वाला ही ब्राह्मण है।†

---

‡ एकनाथ भागवत ५।४१६-४१७।

† **जो तू बामन बमनी जाया, आन वाट ह्वै क्यों नहिं आया।**
जो पै करता वरण विचारै, तो जनमत ही डाँडि किन सारा॥
तुम कत ब्राह्मण हमकत शूद्र। हम कत लोहू तुम कत दूध।
कहु कबीर जो ब्रह्म विचारै। सो ब्राह्मण कहियत है हमारे॥

अथवा

गोप भिन्न है एकै दूधा, कांसू कहिए बामन सूदा।
एक बूंद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति के सब उपजा कौन बामन कौन सूदा।

ज्ञानेश्वर का संतों पर संस्कार

ज्ञानदेव के ग्रंथो का महाराष्ट्रीय वाङमय पर विशेषत: आध्यात्मिक वाङमय और तत्त्वज्ञान पर अमिट और चिरन्तन संस्कार पड़ा है। ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव, जनाबाई आदि संत कवि तो उनसे प्रभावित हुए ही हैं। ज्ञानदेव के बाद होने वाले एकनाथ, दासोपंत, तुकाराम, रामदास, मुक्तेश्वर, मोरोपन्त आदि संत और कवि—ये सब ज्ञानदेव को ज्ञान का आगर समझते हैं और उनके ज्ञानेश्वरी आदि ग्रंथ महाराष्ट्र साहित्य में गुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित और पूज्य हैं।

नामदेव तो ज्ञानदेव के शिष्य विसोवा खेचर द्वारा नाथ परम्परा में समाविष्ट हुए। इस प्रकार ज्ञानदेव, नामदेव के गुरु के गुरु ठहरते हैं। नामदेव पर ज्ञानदेव का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने ज्ञानदेव का चरित्र ही करुणोत्पादक शब्दो में लिख डाला। नामदेव के कुछ अभंगों में ज्ञानदेव के अद्वैत तत्त्वज्ञान का परिणाम स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ अभंगों में बिंब प्रतिबिम्ब भाव दिखाई देता है।

ज्ञानदेव कहते है : जिस प्रकार निद्रावस्था में शरीर को भान नहीं होता चाहे साँप का भयावह स्पर्श हो अथवा उर्वशी का कोमल स्पर्श, उसी प्रकार जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया हैं उसे शरीर के सुख-दुःख का कोई भान नहीं होता, अत: उसके लिए सुवर्ण और गोबर समान हैं। वह रत्न और पत्थर में कोई भेद नहीं जानता।

पैं निद्रताचेनि आंगेंसीं। साप तैसी उर्वशी।
तेविं स्वरूपस्था सरिसीं। देही द्वंद्वें॥
म्हणोनि तयाचिया ठायीं। शेणा सोने या विशेष नाहीं।
रत्ना गुंडेया कांहीं। नेणिजे भेद॥

इन्हीं ओवियों का प्रतिबिम्ब नामदेव के अभंग में पाया जाता है।

निद्रास्ताचे सेजे सर्प कां उर्वशी।
पाहों विषयासी तैसे आम्ही।
शेण आणि सोनें भासते समान।
रत्न का पाषाण एकरूप॥

एकनाथ के ग्रंथों पर, ज्ञानदेय के ग्रंथों का इतना परिणाम हुआ है कि बहुत से भाविक लोग एकनाथ को ज्ञानदेव का अवतार ही समझते है। वस्तुत: नाथ महाराज की भागवत तो कल्पना, शब्द-भण्डार और लेखन पद्धति में ज्ञानेश्वरी का विस्तृत रूपांतर ही है। जिन्हें ज्ञानेश्वरी को समझने की इच्छा हो उन्हें पहले नाथ भागवत का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि यह ज्ञानेश्वरी की सरस बोधगम्य भावार्थ दीपिका है।

तुकाराम के अभंगों पर भी ज्ञानदेव और एकनाथ के ग्रंथों का परिणाम दिखाई देता है। ज्ञानदेव कहते हैं:

जंबुक तभी तक गर्जता है जब तक सिंह दिखाई नहीं देता। मनुष्य तभी तक वैराग्य की बातें कहता है जब तक सुन्दर स्त्री को नहीं देखता। वह तब तक ही मित्रता का दम भरता है जब तक कोई माँगता नहीं, वह तब तक ही युद्ध की बात करता है, जब तक प्रति-द्वंद्वी दिखाई नहीं देता। समुद्र तब तक ही गर्जता है, जब तक अगस्त मुनि के दर्शन नहीं होते। संसार भी तभी तक कष्ट देता है, जब तक रुक्मिणीपति कृष्ण के दर्शन नहीं होते।

तंव वरी जंवुक करी गर्जना। जंव त्या पंचानना देखिले नाहीं।
तंव वरी वैराग्याचा गोष्ठी। जंव सुंदरवनिता दृष्टि देखिली नाहीं।
तंव वरी मैत्रत्व संवाद। जंव वरी अर्थेसि संबंध पाडिला नाहीं।
तंव वरी युद्धाचीमात। जंव परमाईचापूत देखिला नाहीं।

तंव वरी समुद्र करी गर्जना । जंव अगस्ती ब्राह्मणा देखिलें नाहीं ।
तंव वरी वाधी हा संसार । जंव रुखमादेवि वरु देखिला नाहीं ।

अब तुकाराम का अभंग देखिए :

तोंवरि तोंवरि जंबुक करि गर्जना । जंव त्या पंचानना देखिले नाहीं ।।
तोंवरि तोंवरि वैराग्याचा गोष्ठी । जंव सुंदर वनिता दृष्टि पडली नाहीं ।
तोंवरि तोंवरि शूरत्वाच्या गोष्ठी । जंव परमाईचा पुत्र दृष्टि देखिला नाहीं ।।
तोंवरि तोंवरि सिंधु करि गर्जना । जंवत्या अगस्ति ब्राह्मण देखिले नाहीं ।।

नामदेव का अभंग भी कुछ ऐसा ही है ।

तोंवरीं रे तोंवरी वैराग्याचें ठाण । जंव कामिनी कटाक्ष बाण लागले नाहीं ।।
तोंवरीं रे तोंवरी आत्मज्ञान बोध । जोंबरीं अंतरीं काम क्रोध उठले नाहीं ।।
तोंवरी रे तोंवरी निरभिमान जंव देहीं अपमान झाला नाहीं ।।
(नामदेव, अ. १८५८ ।)

रंगनाथ कृत चित्सदानन्द लहरी तो ज्ञानेश्वरी की ओवी बद्ध टीका ही है । ज्ञानदेव के तत्त्वज्ञान और अलंकारों का प्रभाव मराठी संतों तक ही सीमित नहीं रहा । उनका परिणाम भगिनी भाषाओं के संत कवियों पर भी हुआ है । हिन्दी कवि 'कबीर' ने तो अपने तत्त्व-ज्ञान को प्रकट करने के लिए नाथ पंथ में व्यवहृत दृष्टान्तों, उपमानों और रूपकों को अपनाया है । निर्गुण संप्रदाय के हिन्दी कवियों में 'गुरु भक्ति' वर्णन में शिवदयाल तो ज्ञानदेव के निकटतम दिखाई देते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के अन्य कवि ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा में प्रतिपादित पूर्णाद्वैत तत्त्वज्ञान से प्रभावित हुए हैं और उनके काव्यों में उनकी आध्यात्मिक और वाङमयी धारा प्रवाहित हुई है ।

सामाजिक क्रांति और ज्ञानेश्वर

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तेहि तैसी ।

संसार में भाँति-भाँति के मनुष्य हैं, जिनकी विचार धाराएँ और भावनाएँ विभिन्न हैं। संतों के कार्यों का मूल्य-मापन इन्हींभावनाओं के अनुसार किया गया है। कुछ विद्वानों ने संतों के कार्यों की सराहना की है और कुछ ने उन्हें रसातल पहुँचाने में कोई कसर नहीं रखी। आचार्य भागवत कहते हैं :

वारकरी संतों ने संन्यास मार्ग छोड़ा और भक्ति मार्ग का प्रसार किया; परन्तु जाति बन्धन तोड़ने की आवश्यकता उन्हें न महसूस हुई। अवैदिकों का संन्यास इस दृष्टि से अधिक पुरोगामी और क्रान्ति कारक है—ऐसा मेरा मत है। इस क्रान्तिकारी कार्य का आविष्कार वारकरी संतों के हाथ से नहीं हुआ। जिस प्रकार शंकराचार्य को अद्वैत प्रतिपादन के लिए नयी समाज रचना की आवश्यकता महसूस नहीं हुई, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर को भी भक्ति-सुख के आस्वाद के लिए नयी समाज रचना की आवश्यकता महसूस न हुई।

समाज शास्त्र में इसे ज्ञानेश्वर की अपरिपक्वता समझनी चाहिए। यह बात खुले दिल से स्वीकार करनी चाहिए कि शंकाराचार्य का ब्राह्मण धर्म और ज्ञानेश्वर का नया भक्ति पथ दोनों ही नये समाज शास्त्र को जन्म देने में असमर्थ रहे। यही कहना पड़ता है कि वारकरी संतों के सम्बन्ध में राजवाडे ने जो कठोर उद्गार निकाले हैं वे एक प्रकार अक्षरशः सत्य हैं ‡।

---

‡ वा. रं. सुंठणकर, महाराष्ट्रीय संत मडळाचें ऐतिहासिक कार्य : प्रस्तावना पृ. १४। डॉ. श्रीधर रंगनाथ कुळकर्णी : नाथांचा भागवत धर्म, पृ. १७८।

डॉ. कोलते ने भी संतों के सामाजिक कार्यों और उपदेशों का मूल्य मापन इसी ढंग पर किया है। ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में वे कहते हैं :

ब्राह्मण समाज और ब्राह्मण पुरोहितों के कारण ज्ञानेश्वर आदि बन्धुओ को अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ा। उससे छुटकारा पाने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, परन्तु ब्राह्मणों नें उन्हें ठुकरा दिया।...यदि कोई मान धन और स्वतंत्र विचार का आदमी होता तो इस तानाशाही के विरुद्ध अवश्य विद्रोह करता और उसका श्रेष्ठत्व नष्ट करने के लिए आमरण प्रयत्न करता, किन्तु ज्ञानेश्वर ने ऐसा नहीं किया। पुरोहित वर्ग को गिराने की उनमें इच्छा तक न थी, क्योंकि वे शास्त्रों के दास थे। परम्परा से स्वीकृत शास्त्र को अमान्य करके उसके विरुद्ध आचरण करना उन्हें मान्य नहीं हुआ ‡।

न्या. रानडे ने आचार्य भागवत के मत को अस्वीकार करते हुए ये उद्‌गार निकाले हैं :

यह आन्दोलन ज्ञानदेव के जन्म से गत शताब्दी तक जारी रहा और धीरे-धीरे पारमार्थिक सद्‌गुणों की वृद्धि हुई। इस देश में इस आन्दोलन के कारण प्राकृत भाषा में एक बहुमूल्य साहित्य निर्माण हुआ जिससे वर्ण जन्य श्रेष्ठत्व की संभ्रान्त कल्पना का जोर भी कम हो गया। शूद्र वर्ग को पारमार्थिक ज्ञान का उपदेश दे कर उनका सामाजिक महत्त्व बढ़ा कर उन्हें ब्राह्मणों की पंक्ति में ला बैठाया। पवित्र कुल के पवित्र आचारों में पलने वाली कुल-शील स्त्रियों की योग्यता में वृद्धि हुई।...इस प्रकार भक्ति आदि साधनों ने राष्ट्र को विचार-शक्ति और आचार-शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया, परधर्मी राष्ट्र से टक्कर लेने के लिए संगठन करने का नेतृत्व स्वीकार किया और महाराष्ट्र देश को इस कार्य के लिए तैयार किया। †

---

‡ डॉ. कोलते : मराठी संतों का सामाजिक कार्य। † Rise of Maratha Power, M. G Ranade, Page 28.

"अपना विकास करने का हक प्रत्येक व्यक्ति को है। परम्परा को पालते हुए ज्ञानेश्वर ने इसका प्रतिपादन किया है। वेद—ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य—इन तीनों वर्णों को ही प्रेम-पात्र समझता है। इस कमी को दूर करने के लिए गीता अवतरित हुई—ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। उसी प्रकार सब वर्णों के लिए धर्म के क्षेत्र में मुक्ति का द्वार खोल कर पंगु समाज को समर्थ बनाने के लिए ज्ञानेश्वरी अवतरित हुई। ज्ञानेश्वर ने वर्ण व्यवस्था स्वीकार की है—इसी एक कारण पर उनको और उनके अनुयायियों को प्रति क्रान्तिकारी ठहराने वाले कुछ आधुनिक क्रान्तिवीर है। इन क्रान्तिकारियों ने जाति-भेद मिटाने वाले महानुभावों को अग्र पूजा का मान दिया है। आचार्य भागवत को महानुभावों का संन्यास क्रान्तिकारक मालूम होता है, परन्तु उन्होने यह स्पष्ट नहीं किया कि महाराष्ट्र में होने वाली इस क्रान्ति में उनका क्या योग-दान है‡।"

डॉ. हजारीप्रसाद, डॉ. कोलते के दृष्टिकोण से सहमत न हो कर अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं :

डॉ. कोलते ने इसका सामाजिक कारण बताने का प्रयत्न किया हैं। परन्तु सामाजिक कारण हो या न हो मुझे तो इसमें संदेह नहीं जान पड़ता कि अपने विरोधियों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष और प्रति हिंसा की भावना का अभाव ज्ञानेश्वर के व्यक्तित्व की महिमा और स्वभाव के गांभीर्य की घोषणा करता है। निस्सन्देह ज्ञानेश्वर सच्चे संत थे और क्रोध और घृणा पर उन्होंने निश्चित रूप से विजय प्राप्त की थी†।

---

‡ **वा. र. सुंठणकर** : महाराष्ट्रीय संत मंडळाचें ऐतिहासिक कार्य प्रस्तावना पृ. १४। **डॉ. श्रीधर रंगनाथ कुळकर्णी** : नाथांचा भागवत धर्म, पृ. १७८। † **डॉ. कोलते** : मराठी संतों का सामाजिक कार्य—प्रस्तावना —**डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी**।

अन्यत्र आचार्य द्विवेदी जी कहते हैं : "प्रत्येक जाति का अपना एक जातीय गुण होता है, जो उस जाति के व्यक्तियों में प्रायः सामान्य रूप से पाया जाता है।...उपनिषद् काल के बाद जब लौकिक संस्कृत का साहित्य भारतवर्ष में बनने लगा, उस समय से ले कर हज़ारों वर्ष बाद तक इस देश में वेद की प्रामाणिकता में विश्वास, अध्यात्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि का बोलबाला रहा ‡ ।...

उस युग के किसी कवि में बीसवीं शताब्दी के आधुनिक साहित्यिकों की भाँति समाज की व्यवस्था के प्रति तीव्र ०सन्तोष का भाव नहीं पाया जा सकता † ।

भगवान् की एकान्तिक भक्ति में प्रवेश कर सब प्राणियों में ईश्वर की सत्ता मान कर जिन संतों ने दुःखी, दरिद्री, दीन और पीड़ित मनुष्यों के उद्धार का कार्य किया, उन्हें संसार से उदासीन समझना ठीक न होगा। ज्ञानेश्वर के बाद, शिवाजी महाराज के काल तक महाराष्ट्र ने जिनका दृढ़ स्मरण किया, वे सब पुरुष संत परम्परा के हैं। इस साढ़े तीन सौ चार सौ वर्षों की अवधि में ऐसा एक भी कीर्तिवान पुरुष न मिलेगा, जो संत मंडली के बाहर हो। भगवान् और धर्म के संकट काल में महाराष्ट्र में ईश्वर और धर्म की भक्ति के सिवाय दूसरा कार्य ही न था। 'हरि हरि' कहते हुए चुप बैठने का उपदेश संतों ने दिया—इसलिए जनता में उनका अमर आदर नहीं बढ़ा। इसमें संदेह नहीं कि भगवान् की भक्ति का उपदेश उन्होंने दिया, परन्तु इस भक्ति का पर्यवसान लोक-संग्रह में हुआ है। उनके जीवन के इस रहस्य को देख कर लोगों ने उनको चिर स्मरणीय समझा और पीढ़ी दर पीढ़ी यह भावना दृढ़ होती गयी। संतों की देन के इस इतिहास को अस्वीकार करना कठिन है $ ।

---

‡ डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का साथी पृ. १३। † वही पृ. १२। $ नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर : वाङमय आणि कार्य, पृ. ३५१।

लोक संरक्षण का कार्य शस्त्र की सहायता अर्थात् युद्ध से करने की शक्ति ज्ञानेश्वर के समय में बहुत ही क्षीण हो गयी थी। इसलिए युद्ध का मार्ग छोड़ कर ईश्वर और धर्म का ज्ञान जनता को दे कर उनमें ईश्वर और धर्म विषयक जाग्रति से तत्कालीन समाज धारणा के तत्त्वों को जीवित रखने का ध्येय उन्होंने स्वीकार किया ‡।

डा. श्री रं. कुलकर्णी कहते हैं † :

ज्ञानेश्वर जिस दृष्टिकोण से वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करते हैं वह कर्मठो के दृष्टिकोण से भिन्न है। भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण भेद की जड़े इतनी मजबूती से जड़ी हुई हैं कि आज भी व्यवहार रूप में उनका उन्मूलन न हो सका। वर्ण व्यवस्था की छाप लोगो के मन पर इतनी बैठी हुई थी कि शस्त्राघात से भी कोई पंथ इसको न मिटा सकता था। कम से कम थोड़े मनुष्य तो बच रहते चाहे उन्हें बहिष्कृत ही क्यों न समझा जाता। बौद्ध पंथ और महानुभाव पंथ के इतिहास से क्या यह बात सिद्ध नहीं होती ? ज्ञानेश्वर का ध्येय था— सपूर्ण समाज का सर्वांगीण विकास अतः ज्ञानेश्वर ने भागवत धर्म का पुरस्कार किया—उसमें इन दोनों स्वरूपों में से किसी एक की एकान्तिकता दिखाई नहीं देती।

यह कहना ठीक नहीं कि वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी रूढ़ कल्पना का जैसा का तैसा रूप ज्ञानेश्वरादि संतों ने स्वीकार किया। उन्होंने वरिष्ठ वर्णों का गौरव किया है, परन्तु कनिष्ठ वर्णों को हीन नही समझा। उनका सिद्धान्त है कि अपने कर्तव्य को पालन करने वाला प्रत्येक वर्ण समान योग्यता का है। "ब्राह्मणों का धर्माचरण और शूद्रों की परिचर्या वृत्ति समान योग्यता की है। दोनों को ही अपने-अपने स्वधर्म यज्ञ करने का

---

‡ **नरहर रघुनथ फ़ाटक :** ज्ञानेश्वर : वाङमय आणि कार्य, पृ. २४।
† **डा. श्री रं. कुलकर्णी :** नाथांचा भागवत धर्म पृ. १७९।

समान फल मिलता है‡ । उन्हें यह मान्य नहीं कि शूद्र श्रुति बाह्य वर्ण है । उनकी दृष्टि से वर्ण का महत्त्व गौण है । व्यक्ति को महत्त्व है । अपना कर्तव्य पालन करने वाले अनन्य भक्त को वर्ण निरपेक्ष मान का स्थान ज्ञानेश्वर ने दिया है† ।

मानवधर्म

आधुनिक काल में वर्ण-व्यवस्था रूपी चौखट की चूलें ढीली हो गयी हैं । अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने जन्मजात वर्ण-धर्म का पालन नहीं करते । ऐसी परिस्थिति में व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का लोप ही होता जाता है और शनैः शनैः एक ऐसे समाज का निर्माण हो रहा है जिसे हम 'मानव वर्ण' कह सकते हैं । भागवत के अनुसार यह सिद्ध होता है कि सतयुग में चारों वर्णों की उत्पत्ति नहीं हुई थी । उस समय वेद की विभिन्न शाखाएँ और विभिन्न कर्माचरण भी न थे । उस समय सब मनुष्य 'सोऽहं' और 'हंसः' का अखंड ध्यान करते थे । अतः 'हंस' ही एक वर्ण था $ ।

इससे सिद्ध होता है कि युगानुसार वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन होता है और इस कलियुग में भी एक ही वर्ण शेष रह गया है जिसे हम 'मानव' कह सकते है । इसी मानव धर्म का वर्णन भागवत में इस प्रकार किया गया है :

---

‡ **जैसा द्विज षट् कर्मकरी । शूद्र तयातें नमस्कारी ।**
कीं दोहींसि ही सरोभरीं । निपजे यागु ॥ ज्ञानेश्वरी अ. १६-९६ ।

† ज्ञानेश्वरी अ. ९।३९५ ।

$ **पूर्वी कृत युगीचे लक्षण । ते नव्हते गा चारी वर्ण ।**
बहुशाखा वेद पठण । कर्माचरण ते नाहीं ॥
तैं सकळ मनुष्या जाण । सोऽहं हंसाचे अखंड ध्यान ।
या लागी हंस हाचि एक वर्ण । सर्वांसहि जाण ते काळीं ॥
(एकनाथ भागवत)

अहिसा, सत्य, अस्तेय, अकामता, अक्रोधता, निर्लोभता, भूतहित और प्रियता—ये सब वर्णों के धर्म हैं‡।

मनु ने भी कहा है : अहिंसा, सत्य भाषण, चोरी न करना, शौच युक्त रहना और इंद्रिय निग्रह—यह संक्षेप में चारों वर्णो का धर्म है†।

तात्पर्य यह कि जन्मजात वर्ण और धर्म अब एक वैयक्तिक भावना और विश्वास पर आधारित है। हमें तो ऐसे नैतिक मूल्यों की ओर अधिक ध्यान देना है जिनके द्वारा 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' हम विश्व बन्धुत्व को स्थापित कर सकें।

इस प्रसंग का समापन उन शब्दों में किया जाता है जिनका उपदेश भगवान् पांडुरंग ने ब्राह्मणों को किया तथा सतों ने उस पर आचरण किया :

जिसकी बुद्धि, विचार और आचार पवित्र हैं वह कभी भी अछूत नहीं है। यदि देह को अछूत समझा जाए तो यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतों से बनी है। इनमें किस भूत से अस्पृश्यता उत्पन्न होती है? तुम महा विद्वान्, वेद के ज्ञाता और धर्म जानने वाले हो, परन्तु सच्चा आत्म-ज्ञान तुम्हें अब भी नही है।

एकै पवन एक ही पांनीं, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घडे सब भांडे, एक ही सिरजन हारा॥
....
सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई $॥

---

‡ अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम क्रोध लोभता।
भूत प्रिय हिते हाच धर्मोऽयं सार्व वर्णिकः॥ (भागवत)

† अहिसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन मनुः॥
मनु. अ. १०, श्लो. ६३

$ डा. श्यामसुंदर दास : क. ग्र. पृ. ९३

तत्त्वज्ञान

ज्ञानेश्वर कालीन धार्मिक परिस्थिति के अन्तर्गत पृष्ठ सात पर यह उल्लेख किया गया है कि "जैन, लिंगायत और महानुभाव पंथ वैदिक धर्म की जड़ें खोखली करने का काम कर रहे थे।" अब यहाँ इन धर्मों के तत्त्वों का उल्लेख ज़रूरी है जिससे ज्ञानेश्वर के सामाजिक कार्य और तत्त्वज्ञान का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जा सके।

(अ) वैदिक धर्म

भारत में वैदिक धर्म एक प्राचीन धर्म है। इस धर्म के मुख्यतः सात तत्त्व हैं‡ :

इस धर्म के अनुयायी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। वे इंद्र, वरुण, अग्नि इत्यादि वैदिक देवताओं और वैदिक काल के शंकर और विष्णु देवताओं में पूज्य भाव रखते है। वैदिक देवताओं को संतुष्ट करने के लिए हिंसा युक्त यज्ञादि कर्मों का विधान है। वैदिक समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त है†। सब वर्णों मे ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझा जाता है। स्त्रियों और शूद्रों को वेदा का

‡ C. V. Vaidya: History of Medieval India, vol. III, P. 404.

† **पुरुषा पासूनि जन्मले जाण। चारी आश्रम चारी वर्ण।**
त्यांचें उत्पत्तीचें स्थान। ऐक संपूर्ण नृपनाथा।
मुखीं वेद विद ब्राह्मण। बाहू जन्मले राजन्य।
उरु जन्मले वैश्य वर्ण। चरणीं जन्म स्थान शूद्रवर्णा॥

(एकनाथः भागवत अ. ५।४५-४६)

अधिकार नहीं। इस समाज में चार आश्रमों की व्यवस्था है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ। ब्राह्मणेतर वर्णों और स्त्रियों को सन्यास का अधिकार नहीं। उपरोक्त तत्त्वों के अतिरिक्त वैदिक धर्मी वेदो में वर्णित ब्रह्मवाद और कर्मानुसार पुनर्जन्म मानते है।

(१) वारकरी पंथ ‡

महाराष्ट्र में वैदिक धर्मान्तर्गत जो अनेक पंथ हैं उनमें वारकरी पंथ अधिक व्यापक है। मराठी भाषा में वारकरी शब्द दो अर्थों में रूढ़ है :

(१) सप्ताह में नियत दिन अलग-अलग घर में नियम से भोजन के लिए जाने वाला विद्यार्थी।

(२) श्री ज्ञानदेव के काल में वारंवार आने-जाने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता था। अतः वारकरी शब्द का प्रचलित अर्थ है पंढरपुर क्षेत्र में श्री पांडुरंग के दर्शन के लिए नियम से जाने वाला। वारकरी साल में दो बार—आषाढ़ शुद्ध एकादशी और कार्तिक शुद्ध एकादशी को पंढरपुर नियम से जाते हैं।

यदि 'वारकरी' पद का विग्रह वारि+करी किया जाए तो इसका अर्थ यह भी निकलता है "जो सर्वस्व भगवान् पर निछावर करता है। नाथ महाराज कहते है : स्त्री पुत्र प्राण-गृह सर्वस्व भगवान् को अर्पण करना ही 'भागवत धर्म' है।

---

‡ पंढरपुर एक प्राचीन क्षेत्र है।

ऐसा अठ्ठावीस युगें जाण। पंढरपुरासी झाली पूर्ण ॥५॥

(नामदेव अ. ४१४)

आधीं रचिली पंढरी। मग बैकुंठ नगरी ॥१॥
जेव्हां नव्हतें चराचर। तेव्हां होतें पंढरपूर ॥२॥

(वही अ. ४१६)

दारा सुत गृह प्राण । करावें भगवंतासी अर्पण ।
हें भागवत धर्म पूर्ण । मुख्यत्वें भजन या नांव‡ ।।

वारकरियों का मुख्य वाह्य-चिह्न तुलसी की माला है। इसलिए इन्हें 'मालकरी' भी कहते है। वैष्णव संप्रदाय होने के कारण इसे 'भागवत संप्रदाय' भी कहते है। इस पंथ के उपास्य देव श्री पांडुरंग हैं जो श्रीकृष्ण ही है। अत: वारकरी श्रीकृष्ण उपासक है। वे श्रीराम को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। इस पथ में हरि हरैक्य प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए श्री पांडुरंग ने अपने मस्तक पर शिव जी को धारण किया है। इसलिए इस पंथ में शैवों और वैष्णवों का कोई झगड़ा नहीं।

तत्त्वज्ञान

यह पंथ वेद को प्रमाण मानता है। वर्णाश्रम व्यवस्था मान्य है; परन्तु इस पंथ में कर्मठता ने प्रवेश नही किया। यह धर्म वेद के अद्वैत तत्त्व ज्ञान पर आधारित है 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' भगवान् सर्वत्र व्यापक है। वैष्णव जग को विष्णुमय मानते हैं। इसमें भेद मानने वाले का अकल्याण होता है। इस पंथ ने सुलभ भक्ति मार्ग को स्वीकार किया और वाह्यांश की अपेक्षा अंतरंग पर अधिक ज़ोर दिया है। अद्वैत ज्ञान प्राप्त करके भक्ति-सुख का आनन्द भोगना और दूसरों को आनन्द देना इस पंथ का ध्येय है। परमात्मा व्यापक, निर्गुण, निराकार है। इस निर्गुण स्वरूप को पाने का मार्ग सगुण उपासना, नाम-स्मरण और भजन है। ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग में कोई विरोध नहीं। परद्रव्य और पराई स्त्री को स्पर्श न करना इस मार्ग में बड़ा साधन है।

---

‡ एकनाथ भागवत : २।२९१

अलौकिक विद्वान् तथा ज्ञानी थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्ति से उस समय चारों ओर फैले हुए जैन और बौद्ध मतो का खंडन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया।

तत्त्व ज्ञान

(१) मैं-तू यानी मनुष्य का आँखों से दिखने वाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सबमें एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा रहता है और उसी की माया से मनुष्य की इद्रियों को भिन्नता का भास हुआ है।

(२) मनुष्य की आत्मा भी मूलतः पर ब्रह्म ही है।

(३) आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण ज्ञान हुए बिना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। इसीको 'अद्वैत वाद' कहते हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक शुद्ध-बुद्ध-नित्य मुक्त परब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतंत्र और सत्य वस्तु नही है, दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम है अथवा माया की उपाधि से होने वाला आभास है; माया कुछ सत्य या स्वतत्र वस्तु नहीं है—वह मिथ्या है।

(४) यद्यपि चित्त-शुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिए स्मृति ग्रंथों में कहे गये गृहस्थाश्रम के कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं तथापि इन कर्मों का आचरण सदैव न करते रहना चाहिए; क्योंकि उन सब कर्मों का त्याग करके अन्त में संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी हैं, इसलिए सब वासनाओं और कर्मों के छूटे बिना ब्रह्म ज्ञान की पूर्णता ही नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्त को 'निवृत्ति मार्ग', 'संन्यास निष्ठा' या 'ज्ञान निष्ठा' भी कहते है।

३. श्री रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत ‡ ।

श्री रामानुजाचार्य का जन्म संवत् १०७३ में हुआ। उन्होंने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाया।

तत्त्व ज्ञान :

(१) शंकराचार्य का माया-मिथ्यात्व वाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठ हैं।

(२) जीव, जगत् और ईश्वर—ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं, इसलिए चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है और ईश्वर के शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीव और जगत् की उत्पत्ति हुई है। जीव परमेश्वर का अंश है।

(३) भगवान् जगत् के मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते है—(१) व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) (२) विभव—विभव का अर्थ अवतार है। विभव दो प्रकार के होते हैं :

(अ) मुख्य जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है—राम, कृष्ण आदि अवतार।

(ब) गौण—जिनकी पूजा भुक्ति के लिए की जाती है।

(३) अर्चावतार—पांच रात्र विधि से पवित्र किये जाने पर पाषाण की मूर्तियाँ भी भगवान् के अवतार मानी जाती हैं। सर्व साधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है।

(४) अन्तर्यामी अवतार—भगवान् सब प्राणियों के अन्तःकरण में वास करते हैं।

---

‡ **बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ. ४९३, ४९७, ४९८।**

(४) इस पंथ में—भक्ति का मार्ग तीन वर्णों के लिए ही खुला है।

(५) प्रपत्ति ‡ —परमेश्वर की अनन्य शरणागति का मार्ग सब वर्णों के लिए है।

(६) वर्णाश्रम विहित कर्मों का विधान मानव मात्र का कर्तव्य है।

(७) मुक्त आत्मा ईश्वर के समान होती है। ईश्वर के साथ एकात्म्य सम्पन्न नहीं हो जाता।

नाथपंथ :

नाथ संप्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। परन्तु संप्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं—सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योग मार्ग, योग संप्रदाय, अवधूतमत, अवधूत संप्रदाय इत्यादि। इस मत के योग मत और योग संप्रदाय नाम तो सार्थक हैं ही। क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध है। सिद्धमत नाम इस संप्रदाय में बहुत समादृत है। यह सिद्धमत ही आगे चल कर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ †।

'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है भुवनत्रय का स्थापित होना। इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है $।

नाथपंथी हठ योग की साधना करते हैं, परन्तु हठ योग लक्ष्य नहीं है। इसे राज योग का सोपान ही माना गया है। हठ योगी अपने अनुभव को सीधी-साधी भाषा में प्रकट करने में असमर्थ पाता है अतः इन्हें योग परक रूपक और उलटवासियों द्वारा व्यक्त करता है। ये लोग शिव-शक्ति में अभेद मानते है। वे स्मार्त आचारों को कोई महत्त्व

---

‡ 'मामेकं शरणं व्रज'—यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है।

† डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी नाथ संप्रदाय पृ. २। $ वही पृ. ३।

नहीं देते अतः वाह्याचार का खंडन करते हैं। संन्यासी लोग प्रारब्ध कर्म में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि ज्ञान प्राप्त होने पर संचित और क्रियमाण कर्म जले हुए बीज की तरह बेकार हो जाते हैं। परन्तु प्रारब्ध कर्म तब भी बना रहता है। अवधूत लोग सब ही कर्मों को भस्म कर देते हैं। योगी स्थूल वेद से कोई वास्ता नहीं रखते क्योकि वेद यज्ञ का विधान करते हैं। उनका मतलब समस्त वेदों के मूल भूत ओंकार मात्र से है। नाथपंथ में गुरु की बड़ी महिमा गायी गयी है। उनका कहना है कि गुणमय वर्ण और गुणमय आश्रम का अभिमान रखने वाले को गुरु नहीं बनाना चाहिए। नामपंथी द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व को मानते हैं। उनका मत है जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड मे है। ये हरि हरैक्य के मानने वाले हैं। उन्हें विष्णु और शिव समान रूप से प्रिय हैं।

नाथपंथ की महाराष्ट्रीय परम्परा में शिव-शक्ति की एकता, कर्तव्य कर्म, नाम स्मरण, सगुण उपासना, लोक संग्रह और विश्वव्यापकता को भी नाथपंथ की विशेषताएँ माना गया है। ये विशेषताएँ वारकरी संप्रदाय से ग्रहण की गयी हैं‡।

नाथपंथ में अध्यात्म ज्ञान के लिए सबको समान अधिकार है अतः अन्तःकरण की भूमिका तैयार होने पर स्त्री-पुरुष, आश्रमी-अनाश्रमी, ब्राह्मण-अब्राह्मण सबही को नाथपंथी अपने मार्ग की दीक्षा देते हैं†।

(ब) अवैदिक धर्म

(१) **जैन धर्म**—यह प्राचीन धर्म है। इस पंथ के मूल पुरुष महावीर थे। महावीर ने वैदिक पहले पाँच तत्त्वों को त्याग किया और

---

‡ **डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर**, अधिक जानकारी के लिए देखिए—**डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी** : नाथ संप्रदाय।

† ह. भ. प. **शं. वा. दांडेकर**

अपने तत्त्वज्ञान व धर्म की स्थापना की । जैनियों ने 'अहिंसा' तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया । महावीर के कोमल अन्तःकरण पर यज्ञीय पशु हिंसा का अत्यन्त परिणाम हुआ अतः उन्होंने यज्ञीय पशु हिंसा के विरुद्ध और इसके कारण वेदों के विरुद्ध विद्रोह किया । अहिंसा तत्त्व का बहुत जल्द सारे भारत में प्रसार हुआ और फलस्वरूप यज्ञादिक विधान बन्द हो गये और बहुत से लोगों ने मांसाहार वर्ज्य समझ कर शाकाहारित्व स्वीकार किया । कुछ विद्वानों का मत है कि मुसलमानों के आक्रमणों के सामने हिन्दुस्तान के लोग लोहा न ले सके उसका 'अहिंसा-वृत्ति' एक महत् कारण है । तेरहवीं शती में जैन धर्म के प्रसार की फिर एक लहर आयी जो दक्षिण में पहुँची और दक्षिण के, बसव, चक्रधर इत्यादि सब नवमत संस्थापकों ने अपने-अपने आचार धर्म और तत्त्व ज्ञान में 'अहिंसा' को स्थान दिया । उसके श्रेष्ठत्व को स्वीकार किया और इसके द्वारा अपने-अपने मतों के प्रसार को सुलभ बनाया ।

जैन धर्म संस्थापकों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि उन्हें अपने धर्म प्रसार में जन-भाषा को स्वीकार करना है जिससे उनके धर्मों के तत्त्वों का प्रसार सुगमता से अधिक लोगों तक पहुँच सके । इस ध्येय से उन्होंने अपने धार्मिक ग्रंथों को देशी भाषा में लिखा ।

(२) लिंगायत :

इस धर्म के मूल प्रवर्तक बसव थे जिनका इतिहास बसव पुराण में मिलता है । इनका काल बारहवीं शती है । लिंगायत वीर शैवी पंथ है ।

लिंगायत वेदों को प्रमाण नहीं मानते । उन्हें ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व और वर्णाश्रम धर्म अमान्य है । पहले इस पंथ में जाति-भेद न था, परन्तु बाद में जाति-भेद रूढ़ हो गया । वे संन्यास और तप को आवश्यक समझते हैं । स्त्री-पुरुष सब ही गले में चाँदी का जनेऊ पहनते हैं

और उसमें शिव-लिंग रखते हैं और शिव की पूजा करते हैं। वे छूत-छात का विचार नहीं करते और भस्म लेपन से शुद्धि मानते हैं। लिंगायत शव का दाह नहीं करते। उसे दफ़न करते है। वे मृत का श्राद्धादिक संस्कार भी नहीं करते। लिगायत पंथ द्वैती है। लिंगायत शिवोपामक है तथापि हिन्दू धर्मी शैवों से किसी बात में इनका साम्य नहीं। उन्होंने आबाल-वृद्ध बोध गम्य कनडी भाषा में अपने धर्म तत्त्वों का प्रसार किया :

(१) अग्नि और तद्गत दाह जनक शक्तियों की भाँति शक्ति और परमात्मा का सर्वथा अभेद है, जैसे सूर्य का प्रभा और चन्द्र का चन्द्रिका से संबंध है वैसे ही शिव और शक्ति में समवाय संबंध है।

(२) जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही शिव तत्त्व से सपन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है।

(३) जैसे अग्नि और उससे उत्पन्न कणों में न अत्यन्त भेद ही है और न अभेद ही, वैसे ही शिवांशवाचक जीवों में तथा शिव में आत्यान्तिक न तो भेद है और न अभेद ही ‡।

(३) महानुभाव : †

इस पंथ के संस्थापक श्री चक्रधर स्वामी थे। इनका नाम पहले हरिपाल देव था। इनका जन्म बारहवीं शती में हुआ।

इस पंथ के लोग वेदों को प्रमाण नहीं मानते। वे गीता और श्री चक्रधर स्वामी के मुख से निकले हुए सूत्ररूप पाठ को आद्य धर्म-ग्रंथ मानते हैं। वे वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं। वे स्त्री-

---

‡ देखिए—बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ. ५७६-५८४।

† य. खु. देशपांडे : महानुभावीय वाङमयाचा इतिहास

कै. वि. लि. भावे—महाराष्ट्र सारस्वत।

पुरुष सबको समान रूप से संन्यास और मोक्ष-मार्ग का अधिकारी मानते हैं। वे स्पृश्यास्पृश्य का विचार नहीं करते। यह पंथ द्वैती है। यह वैष्णव पंथ है। इस पंथ के आराध्य देव कृष्ण और दत्त हैं। महानुभाव पंथ के अनुयायी नीले वस्त्र धारण करते हैं। इस पंथ के ग्रंथ सांकेतिक लिपि में लिखे गये हैं जिससे पंथ के बाहर के लोग उन्हें न समझ सकें।

ज्ञानेश्वर और जैन धर्म

जैन धर्म को ज्ञानदेव अपने मत व कार्य के बिलकुल विरुद्ध समझते थे। वे इसे अवैदिकाग्रणी कह कर इस प्रकार उल्लेख करते हैं।

नास्तिकों का मुँह बन्द करने के लिए वेद महान् प्रबल हैं। वेदों का विद्रोह देख कर पाखंडियों ने वेदों को निर्मूल और असत्य कहना प्रारम्भ कर दिया है। यदि इसके बिपरीत सिद्ध करना है तो यह प्रतिज्ञा की सुपारी रखी है। इन पाखंडियों के झुड हैं, कोई दिगम्बर रहता है और कोई अपने सिर के केश लुचन करता है तथापि उनका सब नियोजित वितंडावाद अपने आप परास्त हो जाता है। ‡

जैन धर्म के कारण अहिंसा की कृत्रिम बाढ़ आयी। ग्यारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी पर्यन्त जो-जो पन्थ निकले उन सब ने अहिंसा को सिर पर चढ़ा लिया था अत: अहिंसा तत्त्व को बहुत महत्त्व प्राप्त हो गया और इसकी मर्यादा को लोग भूलने लगे। इस परिस्थिति को देख कर ज्ञानदेव ने अपनी सरल और सौम्य वर्णन शैली को त्याग कर तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक में 'अहिंसा' शब्द की खंडन-मंडनात्मक व्याख्य की है और इस तीन अक्षरी पद के लिए लगभग १२० ओवियाँ लिखी हैं। जैनियों के अहिंसा तत्त्व को देख कर ज्ञानदेव की समझ में यह न आता था कि इस पर हँसें कि रोएँ। उन्होंने ऐसी 'अहिंसा' के लिए नीचे के दृष्टांत दिये हैं।

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १३।१९-२१।

नाना मतावलम्बियों ने अपने-अपने मतानुसार अहिंसा का वर्णन किया है। परन्तु यह अहिंसा बड़ी चमत्कारिक है। एक विडम्बना मात्र है। ज्ञानदेव ने इसकी उपमा उस मनुष्य से की है जो वृक्ष की शाखाओं को तोड़ कर जड़ों के चारों ओर घेरा लगाता है, किंवा अपने हाथ तोड़ कर व पका कर अपनी भूख शान्त करता है अथवा मन्दिरों को तोड़ कर उसी सामान से देवता के चारों ओर आँगन बनाता है। ‡

अहिंसा के खण्डन में ज्ञानदेव ने पूर्व मीमांसा, आयुर्वेद व जैन मतों का उल्लेख किया है। वह एक का जीव बचाने के लिए प्रयत्न करता है तो दूसरे का जीव लेता है और यह समझता है कि मैं अहिंसा पर आचरण कर रहा हूँ। परन्तु यह प्रसंग ऐसा ही है जैसे किसी मनुष्य के मुँह में एक ओर तो पेड़ा डालना और दूसरी ओर बाल नोचना।

जैनियों की अहिंसा के सम्बन्ध में कबीर के भी कुछ ऐसे ही विचार हैं :—

जैन जीव की सुधि न जानै,
पाती तोरी देहुरै आनै।
दोनां भवरा चंपक फूला,
तामैं जीव बसै कर तूला।
अरु प्रिथमी का रोम उपारैं,
देखत जीव कोटि संघारैं।
मनमथ करम करैं असरारा,
कलपत बिंद धसै तिहीं द्वारा।
ताकी हत्या होई अद्भूता,
षट दरसन मैं जैन बिगुता॥ †

अहिंसा कर्म नहीं है। यह मूल में एक अन्तःकरण वृत्ति है। इन्द्रियों और सब प्राणिमात्रों के सम्बन्ध में अहिंसा व्यक्त होती है। इसका

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १३।२१९-२२०। † कबीर ग्रंथावली पृ. २४०।

कल्पना चित्र ज्ञानदेव ने बड़े काव्यमय शब्दों में खींचा है। उन्हें अहिंसा का जो भाव पसन्द है, उसकी स्पष्ट व्याख्या सोलहवें अध्याय में इस प्रकार की है। मन, कर्म और वचन से संसार को सुख देने के हेतु जो व्यवहार किया जाता है, उसे अहिंसा का सच्चा लक्षण समझो ‡।

यदि यह देखना है कि 'ज्ञानदेव की दृष्टि से दया', 'अहिंसा' इन तत्त्वों की मर्यादा क्या है तो गीता के दूसरे अध्याय के ३१ वें श्लोक 'स्वधर्मपि' पर लिखी हुई ओवियों को पढ़िए। उनमें से विशेष महत्त्व की ओवियों का भाव नीचे दिया जाता है :

अर्जुन ! तेरे चित्त में यदि दया उत्पन्न हुई है तो भी यह युद्ध के समय अयोग्य है। गाय का दूध उत्तम है तथापि पथ्य में इसका विधान नहीं है। विषमज्वर मे दूध देना विषवत होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण यदि क्षत्रियो का कार्य करे अथवा क्षत्रिय ब्राह्मण के कर्म का आचरण करें तो उनके हित का नाश होता है अतएव तू सावधान हो †।

अहिंसा के कर्म-कांडात्मक अतिरेक को रोक कर लोगों के समक्ष अहिंसा की यथार्थ कल्पना का निरूपण करना ज्ञानदेव के कार्यों में से एक महत्त्व का कार्य है।

श्रीमद्भागवत स्कंध ५ अध्याय ६ श्लोक ११, १२ में भी जैन धर्म के संबंध मे इस प्रकार के विचार प्रगट किये गये हैं।

ज्ञानेश्वर और मानभाव पन्थ

ज्ञानदेव के मत से जैन धर्म के बाद अवैदिक धर्मों में लिंगायत व मानभाव पन्थों की गणना होती है। इसका कारण यह है कि लिंगायत शिव को और मानभाव कृष्ण को पूज्य मानते हैं और शिव व कृष्ण दोनों ही ज्ञानदेव को प्रिय थे। परन्तु अवैदिक होने के कारण ज्ञानदेव को ये भी पन्थ अमान्य थे $।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अभंग १६।११४। † ज्ञानेश्वरी अ. २।१८३-८५। $ ज्ञानेश्वरी अ. १७।१९३।

यशवंत खुशाल देशपांडे ने ‡ 'श्री ज्ञानेश्वर और महानुभाव'—इस शीर्षक में वारकरी पंथ और महानुभाव पंथ की तुलना कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि महानुभाव पंथ भी वेदानुयायी है। इसके लिए उन्होंने कुछ प्रमाण दिये हैं जो इस प्रकार हैं :

महानुभाव पंथ ने संन्यासोत्तर जाति-भेद नष्ट करने का उपक्रम किया, परन्तु श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने भागवत धर्म की स्थापना कर वारकरी पंथ का प्रचार किया और जाति भेद नष्ट न करते हुए सब वर्णों और जातियों के लिए समान स्वत्वों का एक क्षेत्र निर्माण किया।

वारकरी संप्रदाय और महनुभाव पंथ दोनों के उपास्य श्रीकृष्ण और दोनों के धार्मिक ग्रंथ श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता पर आधारित है। दोनों में मुक्ति के साधन भी समान हैं—सत्संग, गुरु सेवा, नामस्मरण। वारकरी संप्रदाय का केन्द्र पंढरपुर और महानुभाव पंथ का केन्द्र ऋद्धिपुर है।

महानुभाव पंथ और वारकरी संप्रदाय दोनों ने ही स्त्रियों और शूद्रों के लिए मोक्ष मार्ग की सुविधा दे रखी है। वारकरी संप्रदाय में वर्णाश्रम धर्म पाल कर किसी भी जाति के मनुष्य को विट्ठल भक्ति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। इस पथ में मोक्ष प्राप्त करने के लिए संन्यास की आवश्यकता नहीं है। महानुभाव पंथ में मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास लेना ज़रूरी है। इसीलिए चक्रधर ने स्त्री और शूद्र दोनों को संन्यास दीक्षा का अधिकारी समझा और उनके लिए मोक्ष-प्राप्ति सुलभ बनायी। स्त्रियों और शूद्रों का संन्यास लेना तत्कालीन प्रचलित सर्वमान्य वैदिक धर्म में अश्रुत पूर्व था।

श्री ज्ञानेश्वर का भागवत धर्म शंकर मतानुयायी अद्वैत है और महानुभाव पंथ—माध्वमत से भिन्न—द्वैत मतानुयायी है। इस पंथ में

‡ देखिए—श्री ज्ञानेश्वर दर्शन भाग १, दर्शन प्रवेश पृ. १३९-१५७।

जीव, देवता, प्रपंच और परमेश्वर चार पदार्थ माने गये है। जीव अनेक हैं। उनके तीन प्रकार हैं—बद्ध, बद्ध-मुक्त और मुक्त।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वारकरी और महानुभाव पंथों में अन्तर केवल तत्त्वज्ञान और कुछ आचार-विचारों का है।

अतः ये दोनों पंथ एक ही प्राचीन वेद मूलक सनातन धर्म की शाखाएँ हैं। यह पंथ बौद्ध और जैन धर्मों की भाँति मूल पुरातन वृक्ष से विभिन्न नहीं हुआ। ह. भ. प. लक्ष्मणराव पांगारकर के कथनानुसार वारकरी पंथ और इतर शैव, वैष्णव, गाणपत्य इत्यादि अनेक संप्रदायों की तरह महानुभाव पंथ भी सनातन हिन्दू धर्मान्तिर्गत ही है।

परन्तु,

महाराष्ट्र में यह बात प्रचलित है कि महानुभाव पंथ अवैदिक, पाखंडी और वर्णाश्रम धर्म विरहित है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं:

चक्रधर के समय दामोदर पडित की स्त्री 'हीरांबा' ने अपने पति के पूर्व ही संन्यास दीक्षा ली और पति को छोड़ कर गुरु-सेवा में रहने लगी। श्री चक्रधर के जीवन काल में नागांबा, महादाइसा इत्यादि अनेक स्त्रियों ने संन्यास दीक्षा ली।

पूर्व परम्परा से जकड़े हुए तत्कालीन सनातन धर्मियों को स्त्रियों का संन्यास ग्रहण धर्म बाह्य मालूम होना स्वाभाविक था। सनातन धर्मियों और श्री चक्रधर के अनुयायियों में फूट पड़ने का यह प्रबल कारण संभव हो सकता है। महानुभावीय साहित्य का अज्ञान, महानु-भावियों की अलिप्तता, संन्यास दीक्षा के बाद स्त्रियों का प्रपंच में फँसना भी इसके संभवनीय कारण हो सकते हैं।

ज्ञानेश्वर और कबीर

ज्ञानदेव और कबीर संत थे। दोनों ने समाज सुधार के लिए प्रयास किया। उनका ध्येय एक ही था, परन्तु उनके साधन में अन्तर लक्षित होता है। ज्ञानदेव ने वर्ण व्यवस्था, वेदों और पुराणों के प्रति असीम श्रद्धा और आदर व्यक्त किया है; परन्तु कबीर ने वर्ण व्यवस्था के प्रति उद्दण्ड विरोध के भाव प्रकट किये हैं। इस भेद के समझने के लिए हमें ज्ञानदेव और कबीर की मनःस्थिति, समाज और लोक स्थिति की ओर ध्यान देना चाहिए।

ज्ञानदेव का जन्म वेद पुराण निष्ठ ब्राह्मण कुल में हुआ था जिनके माता-पिता को वर्णाश्रम धर्म और वेद पुराणों में असीम श्रद्धा थी। इस पैतृक धरोहर के वे वाहक थे। ज्ञानदेव का काल कबीर के काल से भिन्न था। ब्राह्मण वर्ण और वेद-पुराण का डंका चारों ओर बज रहा था। ऐसी परिस्थिति में रह कर यदि कोई सुधार हो सकता था, तो इतना ही कि वेदों में जो अनुदारता थी उसको दूर किया जाए। ज्ञानेश्वर ने बड़ी प्रगल्भता से इस कार्य का संपादन किया। उन्होंने उस वृक्ष की जड़ खोखली नहीं की जिसके वे एक पल्लव थे: वरन् उन्होंने उसकी जड़ को मजबूत ही बनाया; यद्यपि ब्राह्मण समाज ने अपने अंग को अपने हाथ से काट गिराया।

परन्तु,

"कबीरदास एक ऐसी जाति में पैदा हुए थे जो नाथ-योगियों से भ्रष्ट हो कर गृहस्थ बनी थी और ब्राह्मण-व्यवस्था की क़ायल न थी। उस जाति में योगियों के संस्कार पूरी मात्रा में विद्यमान थे। फिर बाद में वह धीरे-धीरे मुसलमान भी होने लगी थी, इसलिए मुसलमानी संस्कार भी उसमें आने लगे थे। फिर भी सब मिला कर उस जाति की सामाजिक मर्यादा निचले स्तर की थी। इसी समाज के संस्कारों के

कारण आचार्य रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति कबीर में एक ऐसे पौधे के रूप में अंकुरित हुई जो अपनी मिसाल आप ही है। कबीर एक ही साथ योगियों का अक्खड़पन, निचले स्तर में वर्तमान छोटी समझी जाने वाली जातियों का तीव्र असन्तोष-भाव, मुसलमानी उत्साह और भक्तगण की निरीहता के सम्मिलित रूप थे ‡।"

यही कारण है कि कबीर ने वर्णाश्रम धर्म के प्रति उग्र विरोध का प्रदर्शन किया है, और वह भी अक्खड़ और सधुक्कड़ी वाणी में। परन्तु ज्ञानदेव ने सदा अमृत की ही वर्षा की। उनका आचरण इस मन:स्थिति के अनुकूल था।

जैसे दीपक को भान नहीं—यह अपना अथवा विराना है—
दोनों को देता सम प्रकाश।
जैसे पादप, पालक-घातक को सम शीतल छाया देता है।
जैसे गन्ने में भेद नहीं—पालक हो चाहे पीड़क हो,
पालक को मीठा रस देता, पीड़क को क्या कड़ुवा देता ?
वैसे ही संत समान रूप से सबको ही सुख देते हैं।

‡ डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का साथी : पृ. १४।

कबीर ने वेद और क़ुरान के प्रति विरोध नहीं किया वरन् उन पंडितों और मल्लाओं को कोसा है जो इन धार्मिक ग्रंथों के वास्तविक भाव को समझने में असमर्थ रहे और जिन्होंने संकीर्णता का पाठ पढ़ाया। वे कहते हैं :

वेद पुरान पढत अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा।
वेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रांमां॥

अथवा,

वेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जोनि विचारैं।
सबै जीव सांईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥

डा० श्याम सुन्दरदास : कबीर ग्रंथावली पृ० ८९,९५।

ज्ञानेश्वर और शंकराचार्य ‡

ज्ञानदेव पूर्ण अद्वैती थे। वे स्वतः जिस नाथ पंथ से अनुगृहीत थे वह नाथपंथ पूर्ण अद्वैत का पुरस्कर्ता है। योग वासिष्ठ व शंकराचार्य के ग्रंथों का अभ्यास भी ज्ञानदेव को अद्वैतवादी बनाने का अंशतः कारण हुआ तथापि इसमें संदेह नहीं कि गुरु परम्परा से प्राप्त अद्वयानन्द की अनुभूति ही उनके अद्वैत मत का मुख्य कारण है †।

‡ डा० श्रीधर रंगनाथ कुलकर्णी : नाथांचा भागवत धर्म—पृष्ठ ३५८-३६८।

† तुलना कीजिए—

'कबीर ने वर्णाश्रम धर्म पर कुठाराघात किया'—इस प्रसंग में वे ज्ञानेश्वर से नितान्त भिन्न थे, परन्तु जहाँ तक तत्त्वज्ञान का संबन्ध है उनके विचार ज्ञानेश्वर के निकटतम थे। यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे तथापि वे बहुश्रुत थे। ज्ञानेश्वर की भाँति कबीर को भी उपनिषद्, योगवासिष्ठ, श्रीमद्भागवत और हठ योग संबंधी ग्रंथों का ज्ञान और अनुभव था। उन्होंने श्रद्धा के साथ इन ग्रंथों के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है :

'तत्त्वमसि' अर्थात् वह (ब्रह्म) तुम हो—यह उपनिषदों का उपदेश है और यही उनका संदेश है। इसका—प्रत्येक जीव ब्रह्म है—उन्हें बड़ा निश्चय है। अधिकारी लोग इसे वरण करते हैं। यह स्वतः सिद्ध परमतत्त्व है जिसने सनकादिक ऋषियों और नारद मुनि को सुख दिया। याज्ञवल्क्य और जनक के संवादों में यही रस बह रहा है। दत्तात्रेय ने इसी रस का आस्वादन किया था। वसिष्ठ और राम ने योगवासिष्ठ में इसी का बखान किया है। कृष्ण ने ऊधो को श्रीमद्

यद्यपि ज्ञानेश्वर शकराचार्य के ग्रंथों से प्रभावित हुए है तथापि दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है।

ज्ञानयोग

शंकराचार्य की भूमिका के अनुसार संसार मिथ्या है। माया ब्रह्म की उपाधि है जिसके कारण मिथ्या जग का आभास होता है। परन्तु ज्ञानेश्वर ने विश्व को वस्तुप्रभा माना है :

विश्व को छोड़ कर परमेश्वर का शोध करने से परमेश्वर का दर्शन होना असंभव है, कारण कि जग और ब्रह्म एक रूप हैं। जो विश्व को परमात्मा से पृथक समझता है उसकी भक्ति व्यभिचारी है। इसलिए भेद को न मानते हुए एक निष्ठ चित्त से तू (अर्जुन) यह समझ कि तेरे साथ मैं (श्रीकृष्ण) इस विश्व में व्याप्त हूँ ‡।

भागवत में यही परम तत्त्व समझाया था। इसी बात को जनक ने—देह धारण करते हुए भी विदेह कहा कर—दृढ़ किया था।

स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय पृ० १५८-१५९।

कबीर—बीजक, रमैनी ८।

गोरखनाथ के हठयोग का आधार कबीर ने ईश्वर-प्राप्ति में विशेष रूप से लिया है। पतजलि के योग को सबसे अधिक आकर्षक रूप में प्रचार करने का श्रेय गोरखनाथ को ही है। अतः कबीर पतंजलि के योग से प्रभावित हैं और उसके अनुभवी साधक भी हैं जैसा उनके हठ योग से संबंध रखने वाले पदो से लक्षित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा : कबीर पदावली, पृ० ३७।

‡ **म्हणौनि जगा परौतें। सारोनी पाहिजे मातें।**
तसा नव्हे उखिते। आघवा मीची ॥ (ज्ञा० १४।१२७।)
...या कारणे भेदातें। सांडोनि अभेद चितें।
आपणाया सकट मातें जाणावेंगा ॥ (ज्ञा० १४।३८२।)

ज्ञानेश्वर के प्रतिपादन में 'विश्व मिथ्या है'—ऐसा निर्देश कहीं नहीं। माया, ईश्वर की प्रभा है—ऐसा वर्णन अमृतानुभव में आया है। माया और परब्रह्म का सबंध वर्णन करते हुए आचार्य ने रज्जुसर्प, शुक्ति-रजत, इस प्रकार के दृष्टांत दिये हैं, परन्तु ज्ञानेश्वर ने सूर्य-प्रभा, सोना-अलंकार, जल-तरग, गुड़-मिठास, कपूर-सुगन्ध, नेत्र-दृष्टि, दीप-दीप्ति—ऐसे दृष्टांत दिये हैं ‡। शंकराचार्य के दृष्टांतों में माया का अवभासात्मकत्व ध्वनित होता है, परन्तु ज्ञानेश्वर के दृष्टांतों में परब्रह्म और माया की एकरूपता और सत्यत्व ध्वनित होता है। तात्पर्य यह कि शंकराचार्य के अद्वैत और ज्ञानेश्वर के अद्वैत में जैसी भिन्नता है वैसी ही आचार्य की माया और ज्ञानेश्वर की वस्तुप्रभारूप माया में भी है।

जग ब्रह्म से भिन्न नहीं :

शिव से तृण पर्यन्त अथवा ब्रह्मदेव से चींटी तक एक ही आत्मा अनुप्राणित है—इस तत्त्व का विवेचन ज्ञानेश्वरी, अमुतानुभव और चांगदेव पासष्ठि मे किया गया है। यथा—

(१) शरीर के अवयव भिन्न होते हुए भी शरीर से भिन्न नहीं; किंवा वृक्ष की शाखाएँ—कोई छोटी, कोई बड़ी—एक ही वृक्ष पर बढ़ती है और उससे भिन्न नही; अथवा सूर्य की अनन्त किरनें एक सूर्य से पृथक् नहीं, उसी प्रकार नाना रूपात्मक दृश्य जगत् मुझसे पृथक् नहीं †।

‡ **गोडी आणि गुळु। कापूर आणि परिमळु।**
निवडू जातां पांगळू। निवाडू होय॥ (अमृतानुभव)

† तुलना कीजिए :
आपुहि बीज वृच्छ पुनि आपुहि, आप फूल फल छाया।
आपुहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिव माया।
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाईं।
झाईं में परिछाईं दरसै, लखै कबीरा साईं॥ कबीर

स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल : निर्गुण संप्रदाय—पृ० १४६।

अथवा

जिस प्रकार तरंगें सागर की संतति हैं उसी प्रकार मेरा और चराचर का संबंध है; अथवा जिस प्रकार अग्नि व ज्वाला दोनों एक अग्नि ही हैं उसी प्रकार मैं ही सब जग हूँ ‡।

(२) सूर्य, रश्मियों का उढ़ौना ओढ़े हुए है। इसके कारण क्या सूर्य और रश्मियों को भिन्न-भिन्न कहा जा सकता है? कमल के विकसित होने पर हज़ारो पंखुड़ियाँ दिखाई देती हैं; परन्तु इन पंखुड़ियों की अधिकता के कारण कमल को पंखुड़ियों से भिन्न नहीं कहा जा सकता†।

(३) सुवर्ण अपने मूल तत्त्व को न खोते हुए अंगूठी, कंकण इत्यादि आभूषणों में परिवर्तित होता है उसी प्रकार शुद्ध सत्-स्वरूप अनन्त विश्व के रूप में प्रकट होता है$।

अथवा

जिस प्रकार वस्त्र का मूल सूत है परन्तु व्यवहार में इसका भान नहीं होता उसी प्रकार जग व्यवहार में दिखाई देता है, परन्तु उसके मूल में चिदानन्द रूप से विराजमान ब्रह्म का भान नहीं होता। जिस प्रकार मिट्टी के वासनों के नाम अनेक हैं, परन्तु इनका मूल मिट्टी ही है उसी प्रकार इस सृष्टि में सबका मूल और अविनाशी तत्त्व ब्रह्म ही है×।

वेदान्त के 'जल तरंग न्याय' को ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रंथों में स्वीकार किया है। कबीर ने भी इसी पद्धति को अपनाया है:

---

‡ ज्ञानेश्वरी १४।११८; १२१। † अमृतानुभव: प्र० ७।१३७।
$ चां० पा० ४। × चां० पा० ९।

दरियाव की लहर दरियाव है
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम् ?
उठो तो नीर है बैठो तो नीर है,
कहो दूसरा किस तरह होयम् ।
उसी नाम को फेर के लहर धरा,
लहर के कहे क्या नीर खोयम् ?
जगत् ही को फेरि सब जगत् और
ब्रह्म के ज्ञान करि देख कबीर गोयम् !

वेदान्त के 'कनक कुंडल न्याय' का वर्णन भी ज्ञानेश्वर ने किया है। कबीर ने उक्त भाव का वर्णन इस प्रकार किया है :

जैसे बहु कंचन के भूषन येकहि गालि तवावहिंगे ।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समायहिंगे ।

जगत् के संबन्ध को ज्ञानेश्वर ने चांगदेव पासष्टि में 'कां मृद्भांडे जया परी' से प्रदर्शित किया है, उसे सुन्दरदास इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप माँहि
मृत्तिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यो है।
'सुन्दर' कहत यह यों ही करि जानौ
ब्रह्म ही जगत होय ब्रह्म दूरि रह्यो है।

ज्ञानदेव जगत् को भ्रम मानने के लिए तैयार नहीं। उनका सिद्धान्त है कि सब विश्व आत्मा ही है। अतः यह प्रश्न उठता ही नहीं कि जग सत्य है अथवा मिथ्या। इस संबन्ध में उनका मत गौडपादाचार्य के मत **'न निरोधो न चोत्पत्तिः'** से मिलता-जुलता है।

जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं—

जिसके मत से जब जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं तो जीव ब्रह्म से भिन्न कब हो सकता है। इसीलिए ज्ञानदेव ने अमृतानुभव में जीव

की स्वतंत्र व्याख्या करने का प्रयत्न ही नहीं किया। हाँ श्रोताओं को इस विषय के समझाने के लिए वेदान्त की तरह उन्होंने जीव की व्याख्या की है जहाँ 'जीव' को चैतन्य का प्रतिबिंब कहा है—**'प्रतिबिम्ब म्हणिजे चैतन्याचें जे'**‡।

ब्रह्म और जीव के सबन्ध में लोगों को कुछ कल्पना दिलाने के लिए ज्ञानदेव ने कुछ दृष्टान्त दिये हैं :

हे चांगदेव (जीव) तू बटेश्वर का पुत्र है जिस प्रकार कपूर का कण कपूर का अंश है†।

अथवा

पृथ्वी पर का अल्प परमाणु जिस प्रकार पृथ्वी रूप है अथवा हिमालय का हिम कण हिमालय रूप है उसी प्रकार तू अपना जीवत्व मुझमें देख। समुद्र की लहर चाहे छोटी हो, फिर भी समुद्र से पृथक् नहीं। इसी प्रकार मैं ईश्वर से सचमुच भिन्न नहीं$।

उपरोक्त दृष्टांतों से यह निष्कर्ष निकालना भ्रम मूलक है कि ज्ञानदेव जीव को परमाणु समझते थे। ये सब दृष्टांत उसके लिए हैं जो 'अहं' के स्फुरण होने पर अपने स्वरूप को देखना चाहता है। इन दृष्टांतों से ज्ञानदेव यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मा एक है और जीव उससे भिन्न नहीं।

कबीर ने 'जीव' और 'ब्रह्म' के एकत्व को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टांत दिया है। वे कहते है कि यह नाम रूपात्मक दृश्य जो

---

‡ ज्ञानेश्वरी १८।३२१। † चां. पा. ३७। $ ज्ञानेश्वरी : १४। ३८५-३८६।

तुलना कीजिए—

साधो एक आप, जग नाहीं।

दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाईं॥ (कबीर)

चर्म चक्षुओं को दिखाई देता है, जल में का घड़ा है जिसके बाहर भी ब्रह्म रूप जल है और अन्दर भी। बाह्यरूप के नाश हो जाने पर घड़े के अन्दर का जल जिस प्रकार बाहर वाले जल में मिल जाता है उसी प्रकार बाह्य रूप के अभ्यंतर का ब्रह्म भी अपने बाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है।

ज्ञानदेव का अद्वैत-अनुभूति पर अत्यन्त कटाक्ष है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विश्व के प्राणियों के आकार, उनके नाम व वेष में विचित्रता देख कर यदि कोई निश्चय कर बैठे कि भेद ही सच्चा है तो ऐसे मनुष्य को करोड़ों जन्म में भी मुक्ति की आशा न करनी चाहिए। अग्नि की चिनगारियों में एक ही प्रकार की उष्णता होती है उसी प्रकार अनेक जीवों में एक ही परमात्मा है। ‡

इसी प्रकार पूर्णाद्वैत में कबीर का इतना अटल विश्वास है कि वे उस परम तत्त्व को कोई नाम देना भी पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैतभाव हो जाने की आशंका हो जाती है। जो तर्क से द्वैत सिद्ध करना चाहते है उनकी बुद्धि मद है—ऐसा वे मानते हैं। †

बंधन के अभाव में मोक्ष ?

जब यह मान लिया जाए कि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं, फिर मोक्ष की क्या जरूरत है। जब आत्मा को बंधन मालूम ही नही तो वह

---

‡ **ऐसे देखोनिकिरीटी। भेद सूसीहन पोटीं।**
तरि जन्माचिया कोटी। न लाहसी निघो॥
अंगार कणीं बहुवसी। उष्णता समान जैसी।
तैसा नाना जीव राशीं। परेशु असे॥
ज्ञानेश्वरी १३।१०५९; १०६२

† **उनको नाम कहन को नाहीं। दूजा धोखा होई।**
कहै कबीर तरक दुई साधै। तिनकी मति है भोरी।

मोक्ष को भी नहीं पहचानती। अविद्या नहीं यह मालूम होने के बाद एक मोक्ष रूप आत्मा ही बाक़ी रहती है।

म्हणोनि बंधचि तव वावो। मा मोक्षाकें प्रसवो।
मरोनि केला ठावो। अविद्या तया॥ अमृतानुभव प्र. ३।१५

एकनाथ महाराज भी यही कहते हैं:

जेथें बद्धता समूल नाहीं। तेथें मुक्तताची काई॥
भावार्थ रामायण यु. का. ७५।८६

मुक्ति के संबंध में कबीर के भी कुछ ऐसे ही विचार है:

राम मोहि तारि कहाँ लै जै हो।
सो वैकुंठ कहौ धौं कैसा जा करि पसाव मोहि दै हो॥
जो मेरे जिवु दुई जानत हौ तो मोहि मुकति बतावौ।
एक मेक है रमि रहा सबन में तौ काहे कौं भरमावौ॥
तारन तिरन तब लग कहिए, जब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मनमाना॥

कर्मयोग

कर्म विषयक सिद्धान्तों के आधार पर शंकराचार्य के इस विषय संबन्धी सिद्धान्त, सूत्र रूप से इस प्रकार हैं:

(१) शास्त्र विहित कर्म के साथ सब ही कर्म अज्ञानी अवस्था में सम्भव हैं। चित्त-शद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता है; परन्तु मुमुक्ष और ज्ञानी अवस्था में सब कर्मों का संन्यास ही विहित है।

(२) कर्म अज्ञान जन्य होने के कारण उनसे मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष ज्ञान से ही मिलता है।

(३) अँधेरा और प्रकाश एक साथ रह नहीं सकते, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म एक साथ रह नहीं सकते।

(४) अतः सर्व कर्म संन्यास पूर्वक ज्ञान निष्ठा ही ज्ञानी के लिए विहित है।

ज्ञानदेव ने कर्म योग के संबंध में निम्नलिखि सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं :

(१) यह शरीर पूर्व कर्मानुसार प्राप्त होता है अतः विहित कर्मों को न छोड़ना चाहिए।

(२) अपने विहित कर्म को छोड कर जो दूसरों के आचार को स्वीकार करता है उसका ऐसा करना पाँवों के बदले सिर के बल चलने के सदृश है।

(३) कर्म-मार्ग पारमार्थिक जीवन-सोपान की पहली सीढ़ी है।

(४) तीर्थ करने से शरीर का मल धोया जाता है और कर्म से चित्त शुद्ध होता है।

(५) आत्मा का जब तक दर्शन नही हुआ तब तक कर्म करना रुक ही नही सकता।

(६) जब तक शरीर के लिए व्यवहार करने पड़ते हैं तब तक कर्म त्याग असंभव है।

(७) सामान्य लोगों के मार्ग दर्शन के लिए ज्ञानी पुरुषों को कर्म छोड़ना ठीक नही।

(८) निष्काम आत्म-स्थिति पर आना ही सच्चा कर्म संन्यास है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

हे अर्जुन ! कर्तापन का अहंकार त्याग करने के बाद किए हुए कर्म निष्कर्म होते हैं। यह मर्म की बात वे ही समझते हैं जिन पर गुरु-अनुग्रह होता है।

अगा करितेन वीण कर्म। तेंचि तें निष्कर्म।
हे जाणती सुवर्म। गुरु गम्य जें॥

उत्तम निष्काम कर्माचरण से अन्तःकरण के रज और तम भाग स्वच्छ हो जाते है। ऐसी नैतिक तैयारी के बाद श्री गुरुदेव साधक को स्वयं आकार दर्शन देते हैं और साधक की तैयारी के अनुरूप उसे आगे का अभ्यास बतलाते है फिर भगवान ही उसके पथप्रदर्शक बन जाते हैं।

कबीर ने भी निष्काम कर्म की सिफ़ारिश की है। निःस्वार्थ किये जाने वाले कर्म जब ईश्वर के लिए सपादित किये जाते हैं तो उनमें भविष्य के लिए कोई अंकुर नही जमता। ऐसे कमं आनन्ददायक होते हैं।

उद्दिम औगुण को नहीं जौकरि जानै कोय ।
उद्दिम में आनन्द है साई संती होय ॥

कर्म के संबंध में नामदेव का निर्धारित सिद्धान्त भी पढ़ने योग्य है। त्रिलोचन ने नामदेव से कहा कि तुम सांसारिक प्रेम में फँसे हुए हो और अभी तक छीपी का काम कर रहे हो। नामदेव ने कहा :

हे त्रिलोचन ! तुम होंठों से राम का नाम स्मरण करो और अपने सभी कर्त्तव्य-कर्म हाथ-पैर से करते चलो, परन्तु अपना मन ईश्वर में लगाए रखो।

नामा माया मोहिया कहै तिलोचन मीत ।
काहे छापै छाडलै राम न लावै चीत ।
नामा कहै तिलोचना मुखां राम संभालि ।
हाथ पाँव कर काम सब, चित्त निरंजन नालि ॥

भक्ति योग :

कर्म योग के सम्बन्ध में शंकराचार्य और ज्ञानेश्वर की भूमिका कितनी भिन्न है, यह उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है। भक्ति योग के संबन्ध में भी यही अन्तर लक्षित होता है। शंकराचार्य का कहना

है कि भक्ति, अद्वैत प्रतीति के लिए बाधक है परन्तु ज्ञानदेव की निष्ठा है कि अद्वैत प्रतीति में भी भक्ति संभव है। आचार्य की दृष्टि से भक्ति चित्त-शुद्धि का साधन मात्र है। इससे अधिक भक्ति का महत्त्व नहीं। सगुणोपासना से ज़्यादा से ज़्यादा ब्रह्म लोक प्राप्त हो सकता है, मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान ही मोक्ष का एकमेव कारण है‡।

गीता में आये हुए भक्ति विषयक वर्णन का शंकराचार्य ने 'भजनं भक्तिः' इतना ही अर्थ दे कर संक्षेप किया है, परन्तु भक्ति-वर्णन-प्रसंग में ज्ञानेश्वर की वाणी में तरगे उठती दिखाई देती है†। भक्ति, चारों पुरुषार्थों की मुकुट मणि है। मोक्ष नगरी के जाने का यह राज मार्ग है। भक्ति से जीवित अवस्था मे ही मोक्ष मिलता है। भक्त परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय है, भक्त के ऋण से मुक्त होने के लिए भगवान् उसकी सेवा करते है। परमेश्वर रूप होने पर भी भक्त का भक्तपन नही छूटता और अद्वैत में भी भक्ति शेष रहती है$।

'अद्वैत में भी भक्ति संभव है'—इस पर यह आक्षेप होता है कि यदि भक्त ईश्वर ही बन गया तो वह भक्ति-सुख का आनन्द कैसे भोग सकता है? भोक्ता भोग्य वस्तु से अलग होना चाहिए। अद्वैत ज्ञान में जब भोक्ता भोग्य बन गया तो भोग कैसे सधेगा?

ज्ञानेश्वर महाराज ने इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार दिया है:

अरे! जिसके शरीर में राजत्व नहीं वह कैसे समझ सकता है कि राजा राजत्व का क्या सुख भोगता है? अथवा अंधकार, अंधकार रह

---

‡ ब्रह्म सूत्र १।२।४; ४।३-१; ४।१-४; ४।३-१५।

† ज्ञानेश्वरी १८।८६७; ८।१९३; १२।१७६।
अमृतानुभव ९।२९; ३०-३५-४२।

$ **तैसी क्रिया कीर न साहे। तरी अद्वैतीं भक्ति आहे।**
हें अनुभवाची जोगे। नव्हे बोला ऐसें॥
(ज्ञा० १८।११५१)

कर क्या सूर्य का आलिंगन कर सकता है ? जो स्वयं आकाश नहीं वह आकाश की व्याप्ति कैसे समझ सकता है ? अथवा गुजों का अलंकार क्या रत्नों के आभूषण की बराबरी कर सकता है ? अत: जो मद्रूप नही हुआ है उसे यह कैसे मालूम हो सकता है कि मैं कहाँ हूँ, फिर वह मेरी भक्ति कैसे कर सकता है ‡ ?

अथवा

एक ही पर्वत तराश कर श्रीराम, उनका परिवार और मंदिर सब बनाये जा सकते हैं, फिर एक ही ज्ञान में सेव्य-सेवक का व्यवहार क्या नहीं हो सकता † ?

गीता के तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक पर विवेचन करते हुए ज्ञानदेव ने मोक्ष प्राप्त करने के दो मार्ग बताये हैं—कर्म योग और ज्ञान योग। ज्ञानी 'विहंगम मार्ग' से तत्काल मोक्ष प्राप्त कर लेता है। कर्म योगी 'पिपीलिका मार्ग' से विहित वर्णाश्रम धर्म का आचरण करके धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है।

भागवत में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है : जो विषयों में आसक्त है और जिसके गुण-दोषों का कोई ठिकाना नहीं वह कर्म-मार्ग का अधिकारी है। जो विषयों से विरक्त है, गुण-दोषों से अलिप्त है, सारे संसार में तिल मात्र गुण-दोष नहीं देखता—ऐसा ज्ञान-संपन्न मनुष्य जो सारे जग को ब्रह्ममय देखता है वह ज्ञान का अधिकारी है। वह मनुष्य जो न अति आसक्त और न अति विरक्त होता है, मेरी भक्ति का अधिकारी है। वह पहले दूसरों के गुण-दोष देखता है, परन्तु विवेक प्राप्त होने पर इस वृत्ति को छोड़ देता है $ ।

---

‡ ज्ञानेश्वरी : १८।११४४-११४६ । † अमृतानुभव : प्र. ९।४३ ।
$ भागवत स्कंध : ११, अ. २०, श्लोक ७-८ ।

योगवासिष्ठ में कर्म योग और ज्ञान योग का समन्वय प्रतिपादित है। सुतीक्ष्ण ने अगस्त्य ऋषि से प्रश्न किया :

मोक्ष ज्ञान से किंवा कर्म से अथवा ज्ञान कर्म दोनों के योग से प्राप्त होता है, निश्चित रूप से कहिए ‡।

अगस्त्य ऋषि ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया : जिस प्रकार पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ते हैं उसी प्रकार ज्ञान और कर्म के योग से परम पद प्राप्त होता है। केवल कर्म अथवा ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता, किन्तु दोनो के साधन से मोक्ष मिलता है अतः मोक्ष के लिए ये दोनों ही साधन हैं †।

ज्ञानेश्वर ने कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय इस प्रकार किया है :

कर्म पारमार्थिक जीवन-सोपान की पहली सीढ़ी है। कर्म मार्ग का आचरण परमात्म-साधन का आरंभ है। सामान्य व्यवहार वाला मनुष्य अहंकार के घोड़े पर सवार होता है अतः परमार्थ सोपान की ध्यान धारणा आदि उच्च सीढ़ियों पर एकदम चढ़ने का अपात्र होता है। निष्काम कर्म के आचरण से अन्तःकरण के काम-क्रोध आदि मल स्वच्छ होते हैं। कुवासना रूपी मल के स्वच्छ होने पर बुद्धि निर्मल होती है।

इस प्रकार सर्वात्मक ईश्वर को स्वकर्म कुसुम अर्पण करने से भगवान् इस पूजा से संतुष्ट होते हैं और वैराग्य रूपी प्रसाद देते हैं। वैराग्य प्राप्त होने पर मनुष्य ज्ञान अथवा ध्यान के अभ्यास के योग्य बनता है। अब वह अपनी वृत्ति के अनुसार ध्यान मार्ग का पथिक बनता है अथवा भक्ति-मार्ग का अनुसरण करता है। ज्ञानेश्वर ने ध्यान-मार्ग के इस पथिक का यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और अन्त में समाधि तक पहुँचने का विशद वर्णन किया है।

---

‡ योगवासिष्ठ वैराग्य १।६। † वही १।७-८।

परन्तु इस मार्ग की कठिनाइयाँ बतला कर भक्ति मार्ग की सिफ़ारिश की है। ज्ञानेश्वरी अध्याय १२ में 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम'—इस श्लोक पर व्याख्या करते हुए ज्ञानदेव कहते हैं :

योग का दुख मृत्यु से भी तीक्ष्ण है अथवा उबलते हुए विष का पीने के समान है‡।...

अभंगों में भी ज्ञानेश्वर ने इसी तथ्य की ओर इशारा किया है : अष्टाग योग, अग्नि होत्र इत्यादि मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती।...भक्ति के बिना एवं श्रुति वचन में श्रद्धा न होने के कारण आत्म-स्वरूप को पहचाना नहीं जा सकता†।...

...भगवान् नरहरि का रात दिन चिन्तन करना मुक्ति का सुलभ साधन है। योग साधन की क्रिया में हाथ-पाँव की मोड़ा मोड़ी में कहीं मरने की नौबत न आ जाए$।

इस प्रकार जब साधक अपना मार्ग निश्चित कर लेता है तो वह भक्ति-मार्ग में साधन स्वरूप सगुणोपासना, गुरु-सेवा, संत- समागम, हरिनाम-स्मरण का आश्रय लेता है। परिणाम स्वरूप भक्त यह अनुभव करता है कि 'वासुदेवः सर्वमिति'× अथवा 'हे त्रैलोक्यचि पुरुषोत्तमु'+। अब वह ज्ञानी भक्त बन जाता है और अद्वय, अभय स्थिति को प्राप्त होता है।

भक्ति, वैराग्य और ज्ञान का संबन्ध नाथ महाराज ने बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है :

भक्ति ज्ञान की जननी है। भक्ति से ही ज्ञान की महिमा है। भक्ति मूल है, वैराग्य फूल है और ज्ञान फल है। जो बिना भक्ति ज्ञान

---

‡ ज्ञानेश्वरी : १२।६८, ७०। † हरिपाठ : अभंग ६२। $ ज्ञानदेव : अभंग १५५। × गीता : अध्याय ७।१९। + ज्ञानेश्वरी : अ. ८।१९३।

संपादन करना चाहता है वह पागल है। बिना जड़ के फल कैसे प्राप्त हो सकता है। जब ज्ञान भक्ति युक्त होता है तो ज्ञानी का पतन नहीं होता। जिसमे शुद्ध भक्ति है उसके चरणों पर ब्रह्म ज्ञान लोटता है।

भक्तीचें उदरीं जन्मलें ज्ञान। भक्तीने ज्ञानासि दिधले महिमान ॥
भक्ती तें मूळ, ज्ञान तें फळ। वैराग्य केवळ तेथीचें फूल ॥
भक्ती विण ज्ञान गिवसिती वेडे। मूळ नाहीं तेथें फळ केवीं जोडे ॥
भक्ति युक्त ज्ञान तेथें नाहीं पतन। भक्ति माता तया करित से जतन ॥
'एका जनार्दनी' शुद्ध भक्ति क्रिया। ब्रह्म ज्ञान त्याच्या लागत से पाया ॥

तुलसीदास ने भी ऐसा वर्णन किया है जो सर्वश्रुत है। उनका निश्चित मत है :

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ काम धेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहि पय लागी ॥

महाराष्ट्रीय भक्ति भागीरथी‡।

शंकराचार्य के कर्म संन्यास से कर्म योग को भारी धक्का लगा। वेदान्ती ज्ञान चर्चा को ही अपने जीवन का साफल्य मानने लगे और भक्ति योगी भगवच्चिंतन को ही सर्वस्व समझने लगे। फलस्वरूप निष्क्रियता बढ़ने लगी। वैयक्तिक विकास की गति अवरुद्ध हुई और समाज की अधोगति तेजी से होने लगी। ऐसी परिस्थिति में महाराष्ट्र में गीतोक्त कर्म योग के पुनरुज्जीवन करने का क्रान्तिकारक कार्य संत ज्ञानेश्वर ने किया।

---

‡ डा० श्रीधर रंगनाथ कुलकर्णी : एकनाथ दर्शन खंड–२। नाथांचा कर्मयोग—पृ० १०४, १११।

एकनाथ ने भी कर्म योग का विचार इसी पार्श्व-भूमि पर किया है। श्रीमद्भगवद् गीता कर्म योग का आदेश देती है—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होंनेभागवत की टीका और इतर स्फुट प्रकरणों में किया है।

महाराष्ट्र के भागवत धर्म ने किसी समय कर्म संन्यास को स्वीकार नहीं किया। मराठी भागवत धर्म ने भागवत धर्म का पाया रखा, इस मंदिर का आधार स्तंभ भी खड़ा किया, परन्तु अकर्मक भक्ति और कर्म संन्यास का पुरस्कार नहीं किया। इसलिए मराठी साहित्य और महाराष्ट्र का सांस्कृतिक जीवन भारत में वैशिष्ट्य पूर्ण बना रहा। इसमें कर्मकांड की कर्मठता और कर्म संन्यास से प्राप्त होने वाली लोक विमुखता निर्माण न हो सकी। मराठी संतों ने ज्ञान भक्ति सम्मुचयात्मक कर्म योग का पुरस्कार किया। इसीलिए दाक्षिणात्य भक्ति की कर्म जडता और उत्तरीय भक्ति का माधुर्य भाव मराठी भागीरथी के प्रवाह में प्रवेश न कर सके। निष्काम कर्म की आवश्यकता का सिद्धान्त ज्ञानदेव के बाद एकनाथ ने जन-मन पर इतना गहरा बिंबित किया कि महाराष्ट्र का सांस्कृतिक जीवन परिशुद्ध बना रहा, जनता जनार्दन जाग्रत रहा, व्यक्ति ने धर्म को सनाथ किया। धर्म से वैयक्तिक जीवन कृतार्थ हुआ और मराठी मन और मराठी साहित्य को समृद्धता प्राप्त हुई—इसका कारण है कर्म योग की वेदोक्त धर्म प्रेरणा का ज्वलंत एवं सजीव प्रत्यय।

भक्ति योग—साक्षात्कार का साधन

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।

न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ‡ ॥

अर्थात्

हे उद्धव ! योग साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।

इसी प्रकार परम भक्त प्रह्लाद ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है :

भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, शौच, व्रत आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। शुद्ध भक्ति के सिवाय अन्य साधन उपहास मात्र हैं†।

तुलसीदास ने कहा है :

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु, संसार पार न पाइये।

अर्थात्

ज्ञान संपन्न विद्वानों की सेवा, सगुणोपासना, गुरु-भक्ति, हरि-स्मरण और सत्संग के बिना भवसागर पार नहीं किया जा सकता। ये ही भक्ति योग के अंग हैं जिनका विवेचन आगे किया जाएगा।

---

‡ भागवत : एकादश स्कंध १४।२०।

† **प्रणीनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।**
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

(भागवत : एकादश स्कंध, ७।५१-५२)

बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० ४७९।

(१) सगुण रूप

ज्ञानेश्वरी में परमात्मा के सगुण स्वरूप का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। 'किरीटिनं गदिनं चक्र हस्तम' श्लोक पर टीका करते हुए ज्ञानदेव अर्जुन से कहलवाते हैं :

हे कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ! हे शार्ङ्गपाणि ! मैं आपके नील वर्ण, क्षीण कटि, मदन-मद-हारी, मुकुटधारी, वैजयन्ती माला विभूषित, गदा-चक्रधारी, श्याम सुन्दर रूप को देखने के लिए अधीर हूँ।

ज्ञानदेव ने बनवारी के सौन्दर्य वर्णन के लिए जो विशेषण प्रयोग किये है उनसे उनका लावण्य और सौन्दर्य मूर्तिमान हो कर सामने खड़ा हो जाता है। प्राकृत कवि भगवान् के नील वर्ण को व्यक्त करने के लिए नील कमल, नील आकाश और नील मणि के उपमान प्रस्तुत करते हैं; परन्तु भगवान् के नील वर्ण को किसी भौतिक पदार्थ की उपमा दे कर पार्थिव उपमान की कक्ष में बिठाना ज्ञानदेव को पसन्द नहीं। अतः उन्होंने यह कहना उपयुक्त समझा कि उनके अंगों की कान्ति नील कमल के लिए नीलत्व का आदर्श है। उनकी नील आभा आकाश को रंजित करती है और नील मणि को तेजस्विता प्रदान करती है। अब कटि की सुषमा को व्यक्त करने के लिए रतिनायक की छवि को हेय समझा। इसीलिए कहा गया है कि कटि की शोभा से मदन की शोभा बढ़ती है और इस शोभा को हृदयंगम कराने के लिए दो उपनाम प्रस्तुत किये गये हैं—'मरकत मणि में सुगन्ध की युति' और 'आनन्द में अंकुर निकलना'। फिर मस्तक पर मुकुट की शोभा की अभिव्यंजना के लिए एक पहेली-सी खड़ी कर दी कि मस्तक की शोभा मुकुट बढ़ा रहा है अथवा मुकुट की ही शोभा मस्तक से बढ़ रही है। भगवान् कृष्ण का शरीर इतना सुन्दर है कि शरीर की कान्ति से आभूषण जगमगा रहे हैं। शार्ङ्गपाणि के शरीर से वैजयन्ती माला उसी

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ११।४६ श्लोक।

तरह शोभा देती है जिस प्रकार आकाश से इंद्र धनुष को शोभा प्राप्त होती है। कृष्ण के सान्निध्य में रहने के कारण उनकी गदा भी इतनी उदार बन गयी है कि वह दैत्यों तथा दानवों को मोक्ष दान देती है। उनका चक्र भी अपने अप्रतिम सौम्य तेज से भक्तों को अभयदान देने की सूचना कर रहा है‡। तात्पर्य यह कि जो उपमान हैं वे कृष्ण द्वारा रंजित और सजीव हैं। उनके सगुण में निर्गुण की व्यापकता है।

अनन्त-अरूप परमात्मा का रूप-सौन्दर्य वर्णन करने के लिए संतों ने अपनी-अपनी बुद्धि और वाणी के विलास का परिचय दिया है। वे असीम को ससीम उपमानों द्वारा भौतिक क्षेत्र में उतारने को अक्षम्य अपराध समझते है। अत: वे इन उपमानों द्वारा परम अव्यक्त के रूप को समझाने का प्रयास मात्र करते हैं; परन्तु पाठकों के हृदय-पटल पर यह अटल सत्य अंकित कर ही देते हैं :

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटिसत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।
एहि भाँति निज-निज मति विलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।

निर्गुण और सगुण की समानता

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं :

साकार और निराकार दोनों रूप निःसंशय आपके ही हैं। भक्ति से सगुण रूप की और योग से निर्गुण रूप की प्राप्ति होती है। हे बैकुंठ नायक श्रीकृष्ण! आपकी प्राप्ति के लिए ये दो मार्ग हैं। साकार और निराकार दो देहलियाँ हैं। देखो! सौ तोले वज़न वाले सोने के टुकड़े को कसौटी पर कसने पर जो कस उतरता है वही कस उस सोने के कम वज़न वाले टुकड़े का लगता है। अमृत के समुद्र में जो

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ११।६००-६०५।

देखिए, एकनाथ भागवत अध्याय ११।१४६६-१४८४।

सामर्थ्य है वही चुल्लू भर अमृत में है। इसलिए व्यापक और एकदेशीय रूप अथवा निर्गुण और सगुण की योग्यता समान ही है‡।

साकार और निराकार सापेक्षिक शब्द हैं। ज्ञानदेव कहते हैं:

जिस गाँव में 'अज्ञान' के किसी भी प्रभाव के लिए जगह नहीं, वहाँ 'ज्ञान' का निकालने वाला भी न होगा। दीपक का उपयोग रात में किया जाता है। दिन में इसका उपयोग व्यर्थ है। 'अज्ञान' की अपेक्षा से ही 'ज्ञान' शब्द का अर्थ लगता है। जब 'अज्ञान' ही नहीं तो 'ज्ञान' शब्द के उच्चार की आवश्यकता ही नहीं। पलकों के खुलने और मुँदने से दृष्टि को विषय का ज्ञान होता है। ज्ञान और अज्ञान पलकों के खुलने और मुँदने के समान हैं†।

तुलसीदास का मत है कि अज्ञान के बिना ज्ञान, अन्धकार के बिना प्रकाश और सगुण के बिना निर्गुण की सिद्धि हो ही नहीं सकती। निर्गुण कहते ही सगुण की सिद्धि हो जाती है अतएव जो सगुणोपासना छोड़ कर निर्गुणोपासना करना चाहते हैं उन्हें यथार्थ निर्गुण तत्त्व का ज्ञान होना बहुत ही कठिन है$।

वे कहते हैं: सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। निर्गुण, अजन्मा और अलक्ष्य ईश्वर, भक्त के प्रेम के कारण सगुण रूप धारण

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १२।२३-२६।

† **म्हणूनि अज्ञान नाहीं। तेथेंचि गेले ज्ञान ही।**
आतां निमिषोन्मेषा दोहीं। ठेली वाट॥

अमृतानुभव प्रकरण ९।१२।

$ **ग्यान कहै अज्ञान बिनु। तम बिनु कहै प्रकाश।**
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

कर लेता है‡। पुनः उन्होंने सगुण और निर्गुण की एकता बताने के लिए जल और ओले का दृष्टान्त दिया है†।

एकनाथ महाराज भी यही कहते हैं : मेरा स्वरूप निर्गुण है और सगुण भी है। निर्गुण और सगुण दोनों को एक ही समझना चाहिए। सगुण और निर्गुण समान है$। फिर नाथ महाराज कहते हैं : जिस तरह पिघला हुआ घी और जमा हुआ घी दोनों एक ही पदार्थ हैं, परन्तु जमे हुए घी को खाने से अधिक मजा आता है उसी प्रकार निर्गुण-सगुण एक होते हुए भी सगुण भजन अधिक सरस है×।

परन्तु कबीर का निश्चित मत है कि ईश्वर निर्गुण-निराकार है+।

ईश्वर किसी भी दृढ़ भावना से प्राप्त हो सकता है

कामं क्रोधं भयं स्नेह मैक्यं सौहृदमेवच।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतांहिते§ ॥

अर्थात्

काम, क्रोध, भय स्नेह, ऐक्य, मित्रता आदि जिस किसी भी हृदय के विकार के द्वारा उस पर ध्यान जमाया जाए उसी रूप मे तन्मयता प्राप्त हो जाती है।

---

‡ सगुणहिं अगुणहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा॥
अगुण अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन-सो होई॥

† जो गुण रहित सगुण सोई कैसे। जल-हिम-उपल विलग नहीं जैसे॥

$ माझे स्वरूप निज निर्गुण। अथवा बैकुंठी चे सगुण।
दोन्हीं एकचि निश्चयें जाण। सगुण निर्गुण सम साम्य॥

× विघुरले तें तूप होये। थिजले त्या परीस गोड आहे॥

+ गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नाहीं माया॥

§ भागवत स्कंध १०।

मानस शास्त्र की दृष्टि से किसी भी तीव्र भावना से मनुष्य ईश्वर की ओर जा सकता है। इस प्रकार अत्यन्त तीव्र प्रेम, भीति किंवा द्वेष—किसी एक भावना की सहायता से परमेश्वर की प्राप्ति होती है। ज्ञानेश्वर ने इसके उदाहरण दिये हैं :

किसी निमित्त से मुझमें जिसका चित्त लगा है वह सहज ही मद्रूप हो जाता है। पारस को फोड़ने के लिए जैसे ही लोहे का घन उसे स्पर्श करता है वैसे ही घन सोना बन जाता है।

गोपियों ने वल्लभ रूप में मेरा ध्यान किया और वे मुझे उस स्वरूप में आकार प्राप्त हुई। कंस को मेरा भयंकर डर मालूम हुआ और अंत में वह मुझमें लीन हो गया। शिशुपाल ने मेरा अतिशय द्वेष किया फिर भी मद्रूप हो गया। पांडवों और यादवों ने बन्धु और आप्त समझ कर मुझसे प्रेम किया। वसुदेव ने पुत्र समझ कर मुझ पर ममता की। नारद, ध्रुव, शुक, अक्रूर और सनत कुमार ने मेरी श्रेष्ठ भक्ति की और वे सब मेरे स्वरूप में लीन हुए। अर्जुन ! मैं ही सब भावों का अन्तिम ध्येय हूँ और मुझे भक्ति प्रेम, विषय, वैराग्य, द्वेष इत्यादि अनेक मार्गों से प्राप्त किया जा सकता है‡।

एकनाथ ने भावार्थ रामायण में विस्तार से इसका वर्णन किया है। रावण ने सनत कुमार और नारद से मोक्ष का मार्ग पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि भगवान् तप, यज्ञ, ज्ञान और न योग से ही प्राप्त होते हैं। उनके पाने के दो मार्ग है—अनन्य भक्ति अथवा दृढ़ वैर+।

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ९।४६४-४७०।

† **भक्त आणि वैरिया जाण। समान देणें ब्रह्म सायुज्य।**
पावावया श्रीराम प्राप्ति। दृढ़ वैर का अनन्य भक्ति।
येण पाविजे रघुपति। जाण निश्चिती लंकेश॥

भावार्थ रामायण युद्धकांड अ. २४।४४, ३२५।

अतः रावण ने सोचा कि सीता को चुराने से जो पाप लगा है उससे मुक्त होने का एक ही साधन है कि श्रीराम के हाथ से मारा जाऊँ।

श्रीराम हस्ते अन्त गती। सायुज्य मुक्ति सहजची ‡ ॥

तुलसीदास ने भी इस बात का निरूपण किया है। शूर्पणखा से यह सुन कर कि खर-दूषण और त्रिशिरा को राम ने मार डाला, रावण को अत्यन्त क्षोभ हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा कि यदि देवताओं की रक्षा करने वाले और पृथ्वी के भार को नाश करने वाले भगवान् ने अवतार धारण किया है तो मैं उनसे हट कर वैर करूँगा। जब प्रभु के बाण लगने से मेरे प्राण निकलेंगे तो मैं संसार सागर से तर जाऊँगा। इस तामस शरीर से भक्ति-मार्ग का अवलम्ब मैं न कर सकूँगा अतः मनसा-वाचा-कर्मणा, मैंने इस मत्र को दृढ़ कर लिया है।

सुर रंजन भंजन महि भारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा।
तो मैं जाइ वैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्राण तजे भव तरऊँ।
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा ॥

अनन्य प्रेम द्वारा भगवान् की प्राप्ति :

नामदेव ने अपने एक अभंग "दुडीवरी दुडी साते निघाली" में इसी प्रेम की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है :

एक गोपी गोरस से भरी हुई हंडी सिर पर रख कर मथुरा के बाज़ार में बेचने के लिए निकली। 'दही लो दही', 'दूध लो दूध' पुकारते-पुकारते भूल कर 'गोविन्द लो, गोविन्द', 'दामोदर लो दामोदर' पुकारने लगी। मथुरा की एक गोपी आश्चर्य चकित हो उससे पूछने लगी कि तू श्रीकृष्ण को बेचती है कि गोरस को ? क्या पागल तो नहीं है ? गोपी कहने लगी कि गोविन्द कहो चाहे गोरस—एक ही बात है।

‡ भा. रा. यु. का. २४।६।

दोनों का अर्थ परमात्मा है, कारण कि सब त्रैलोक्य परमात्म-स्वरूप है और उसे ही तुम्हारे गाँव में बेचने आयी हूँ। नामदेव कहते हैं कि रुक्मिणीपति श्री कृष्ण की भेंट होने के बाद भक्त परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

कबीर कहते हैं कि राम-नाम लेने से मैं ठीक उसी प्रकार राममय हो गया जिस प्रकार कीट, भृंगी में बदल जाता है।

चोखा राम नाम मन लीन्हा। भृंगी कीट भ्यैन नहीं कोई॥

मीरा का कुछ ऐसा ही अनुभव है।

इस व्रज में विचित्र जादू है। एक गोपी सिर पर मटकी रख कर दही बेचने निकली। मार्ग में उसे श्री कृष्ण मिले। वह दही का पुकारना भूल कर 'श्याम लो, श्याम लो' पुकारने लगी। मीरा कहती हैं कि गिरधर नागर श्याम बड़े सुन्दर और रसिक है। वृन्दावन की कुंज गलियों में उनके दर्शन के बाद मैं तन्मय हो गयी।

भक्त का स्वरूप :

जिस प्रकार ऊपर से बरसे हुए पानी को पृथ्वी पर गिरने के अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं मालूम, किंवा अनन्य गतिक गंगा अपनी सब संपत्ति ले कर समुद्र की तलाश में निकलती है और उसमें अपनी सब संपत्ति के साथ लीन हो जाती है उसी प्रकार अपनी भावना रूपी सब संपत्ति ले कर मेरा सच्चा भक्त अखंड प्रेम से मुझ से मिल कर मुझ स्वरूप ही बन कर रहता है‡।

भगवान् भक्त का उद्धार करते हैं :

भगवान् कहते हैं : हे अर्जुन ! जो बालक माता के उदर से जन्म लेता है वह उसे कितना प्यारा होता है—इसके कहने की आवश्यकता

‡ ज्ञा० ११।६८६-६८८।

वह मनुष्य मूर्तिमान अज्ञान है जो अपने मन में फल की आशा रख कर मेरी भक्ति इस प्रकार करता है जिस प्रकार कोई व्यभिचारी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुभीता पाने के लिए अपने पति को मन भर सतुष्ट करती है और झूठा विश्वास दिलाने के लिए ऊपरी शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखाती है। हे अर्जुन ! यह अज्ञानी पुरुष ऊपर से दिखाने के लिए तो मेरी भक्ति करता है; परन्तु वास्तव में उसकी सारी दृष्टि विषय सुखों के संपादन की ओर रहती है। वह सजीव प्राणियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है; परन्तु वृक्ष और पाषाणादि स्थावर पदार्थों को देवता समझ कर उनकी पूजा करता है, और इस प्रकार उसकी एक निष्ठ श्रद्धा किसी पर नहीं होती। वह मेरी मूर्ति तो प्रतिष्ठित करता है; परन्तु उस मूर्ति को अपने मकान के किसी कोने में स्थापित करके स्वयं दूसरे देवताओ के दर्शन के लिए यात्रा पर निकल जाता है। वह सदा मेरा पूजन करता है; परन्तु मंगल कार्यों में कुल देवताओं का अर्चन करता है, और कुछ विशेष पर्वों के समय दूसरे देवताओं की आराधना करता है। वह घर में तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है , परन्तु मिन्नतें दूसरे देवताओं की माँगता है। वह श्राद्ध के समय अपने पितरों का भक्त हो जाता है। वह एकादशी के दिन जितना मेरा मान करता है उतना ही श्रावण शुक्ल पंचमी के दिन नागो का भी मान करता है। वह भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी के दिन गणपति का भक्त हो जाता है और चतुर्दशी आने पर दुर्गा की भक्ति करने लग जाता है। वह नवमी का आयोजन करके नवचंडी का अनुष्ठान करने बैठ जाता है, और रविवार को काल भैरव की खिचड़ी बाँटने लगता है और फिर सोमवार आने पर वेलपत्र ले कर शिव की पूजा को दौड़ पड़ता है। ‡

कबीर सकाम भक्ति को निष्फल समझते हैं। ईश्वर निष्कामी है अतः वह सकाम भक्त को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

---

‡ ज्ञानेश्वरी १३।८०७–८२१।

जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव: ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निह कामी निज देव ।। ‡

कबीर भी ऐसे भक्त को व्यभिचारिणी स्त्री के समान समझते है जो अपने पति को छोड़ कर यारों पर आसक्त रहती है, अथवा उनके अनुसार ऐसा भक्त गणिका के पुत्र के समान है जो इस बात को नही जानता कि उसका पिता कौन है ?

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय ।
जार सदा मनमैं बसै, खसम खुसी क्यों होय ।
राम पियारा छाड़िकर, करै आन को जाप ।
वेस्वा केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप ।। †

फिर कबीर कहते है कि एक जन्म के लिए हज़ारों देवताओं को क्यों पूजते हो ? श्रीराम का भजन क्यों नहीं करते जिनके भक्त शिवजी है ।

एक जनम के कारणे कत पूजौ देव सहेसा रे ।
काहे न पूजो रामजी जाके भगत महेसा रे ।

सूरदास ने भी इसी प्रकार का भाव अपने एक पद में प्रदर्शित किया है: गोपियाँ उद्धव से कहती है कि व्रज की सब गोपियाँ श्याम की भक्ति में पगी हैं । कृष्ण के अतिरिक्त वे किसी अन्य को नहीं जानतीं । यदि कृष्ण को छोड़ कर वे अन्य देव की उपासना करेंगी तो उनकी यह भक्ति व्यभिचारी कहलाएगी । उनकी एक स्वामि-निष्ठा भंग होगी ।

ब्रज जन सकल स्याम-व्रत धारी ।
बिन गोपाल और नहीं जानत आन कहें व्यभिचारी ।

गोपियों का हृदय रूपी घट कृष्ण-प्रेम रूपी जल से भरपूर है अब उसमें दूसरा प्रेम समा ही नहीं सकता ।

---

‡ क. ग्रं. पृ १९ । † नि. सं. पृ. ९४ ।

अनन्य भक्ति :

सूर्य किरणों का प्राण है वैसे ही भगवान् भक्तों के प्राण हैं अथवा भगवान् का स्मरण करना ही भक्त का जीवन है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि भक्त, मनसा, वाचा, कर्मणा मुझे ही सर्वस्व समझता है और मेरे सिवाय किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करता।‡

भक्त का प्रेम भोग से कम नहीं होता। उसका प्रेम बढ़ता ही रहता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु का पानी दिन-दिन बढ़ता जाता है उसी प्रकार प्रेम भोग से बढ़ता है। ज्ञानदेव अमृतानुभव में कहते हैं : प्रिय वस्तु के भोग से चित्त अकुलाता नहीं वरन् नित नया आनन्द मिलता है।

पढियंते सदा तेचि। परि भोगी नवी नवी रुची।

गंगा का प्रवाह समुद्र की ओर चालू ही रहता है।

मिळोनि मिळताचि असे। समुद्रीं गंगाजल जैसे।

उसी प्रकार भक्त की अन्तःकरण वृत्ति भगवान् के भजन में एक-सी प्रवाहित रहती है।

कबीर भी अनन्य भक्ति का द्योतन करते हैं :

मैं उस समर्थ भगवान् का दास हूँ जिनकी शरण में कभी भी अकल्याण का अंदेशा नहीं। मैं तो भगवान् की पतिव्रता स्त्री हूँ। यदि यह भगवान् की स्त्री नंगी रहेगी तो उसके स्वामी को ही लज्जा होगी।

उस सम्रथ का दास हौं कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तो उस ही पुरिस कौं लाज॥

तुलसीदास भी चातक की भाँति घनश्याम राम का ही भरोसा करते हैं :

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

---

‡ ज्ञानेश्वरी १३।६०४।

विनय पत्रिका में गोस्वामी जी कहते हैं :

जो मैं यह कहूँ, कि मैं राम जी को छोड़ कर किसी और का हूँ, तो मेरी यह जीभ गल जाए। हे श्री जानकी वल्लभ ! मैं तो इस संसार में आपके ही टुकड़ों से जी रहा हूँ।

गरैसी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी जीवन ! जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर कोहौं॥

सत्संग :

दुर्लभो मानषो देहो देहिनां क्षण भङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुंण्ठ प्रिय दर्शनम्॥

[भागवतः स्कं० ११ अ० २, श्लो० २९]

स्व. डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपनी पुस्तक 'निर्गुण सम्प्रदाय' की प्रस्तावना में 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति दी है। वे कहते हैं कि 'संत' शब्द की संभवतः दो प्रकार की व्युत्पत्ति हो सकती है।

(१) इसे पालीभाषा के उस 'शांत' शब्द से निकला हुआ मान सकते हैं जिसका अर्थ निवृत्ति मार्गी वा विरागी होता है।

(२) यह उस 'सत्' शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिन्दी में एक वचन जैसा होता है और जिसका अभिप्राय 'एक-मात्र सत्य में विश्वास करने वाला' अथवा उसका पूर्णतः अनुभव कर लेने वाला व्यक्ति समझा जाता है।

इन दोनों ही दृष्टियों के अनुसार इस शब्द का प्रयोग 'संत कवियों' के लिए उपयुक्त ठहरता है, यद्यपि इन दोनों में से दूसरे को 'संत' शब्द का मूल साधारणतः मान लिया जाता है। परन्तु 'सत्' शब्द, सत्य का आशय प्रकट करने के अतिरिक्त सद्भाव की भावना का भी द्योतक है और इस प्रकार संत शब्द एक अत्यंत व्यापक अभिप्राय का सूचक बन गया है और इसे दुर्जन पुरुष के विपरीत एक सत्पुरुष व सज्जन का समानार्थक भी समझा जाता है।

प्रा. नरहर रघुनाथ फाटक ने अपनी पुस्तक 'श्री ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य' में 'संत' शब्द की विस्तृत व्याख्या की है :

संत ही जनता के मार्ग दर्शक हैं। अर्थात् वे जैसा व्यवहार करते हैं वह जनता के लिए आदर्श समझना चाहिए—**संतोदिक्**।

महाभारत में संतों के संबंध में लिखा है कि वे वैराग्य संपन्न किंवा अनासक्त होते हैं।‡

योग वासिष्ठ में संतों का वर्णन है :

राजा के देश घातक क्षोभ, दुष्काल, रोग, परचक्र इत्यादि से उत्पन्न होने वाले जन क्षोभ को निवारण करने की सामर्थ्य संतों में होती है।†

शंकराचार्य के स्फुट प्रकरणों में 'संत' शब्द का काफ़ी स्पष्टोकरण किया गया है :

संत, शान्त वृत्ति और उदार अन्तःकरण के होते हैं

वे वसंत ऋतु की तरह लोक हित करते हैं। भयंकर भवसागर से स्वयं पार होते हैं और दूसरों को भी निर्पेक्ष बुद्धि से तारते हैं अर्थात् संत लोक हित का कार्य करते हैं और यह कार्य वे निर्पेक्षता से करते हैं।$

---

‡ देखिए :

नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर वाङमय आणि कार्य पृ. ६; १३–१४; महाभारत : शान्तिपर्व, अ० २८८।

† **भूभृद् भंग करं धीरा देश भंग दया कुलम।**
रोधयंत्यायतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ॥

$ **शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो**
वसन्त वल्लोक हितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनान्
अहेतु नान्यापि तार यन्तः ॥

नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर : वाङ्मय आणि कार्य. पृ. ८

भर्तृहरि के नीति शतक में भी संत, साधू, महात्मा इत्यादि के चरित्र और व्यवहार का वर्णन इसी प्रकार किया गया है :

"जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़ कर जो लोग लोकहित के लिए प्रयत्न करते हैं वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिए जो दूसरों का नुक़सान करते हैं वे नीच, मनुष्य नहीं हैं। उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिए। परन्तु एक प्रकार के मनुष्य और भी हैं, जो लोकहित का निरर्थक नाश किया करते हैं—मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्यों को क्या नाम दिया जाए ‡।"

भागवत में संतों के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं :

संतों को कभी किसी वस्तु की अपेक्षा अहीं होती। उनका चित्त मुझ में लगा रहता है। उनके हृदय में शान्ति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहंकार का लेश भी नहीं होता, फिर ममता की तो संभावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में एक रस रहते है, तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक संबंधी किसी प्रकार का भी परिग्रह नहीं करते †।

गीता, भागवत, योग वासिष्ठ आदि ग्रंथों में जो विचार ग्रथित हैं वे ही संतों के उपदेश और स्वोद्धार की पूंजी हैं। इसलिए संतों की

‡ एके सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थ मुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
येतु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥
भर्तृहरि नीति शतक. ७४
तिलक : गीता रहस्य पृ. ८२

† भागवत : स्कंध ११, अ० २६, श्लो० २७

वाणी में उपरोक्त ग्रंथों के विचारों की ध्वनि सुनाई देती है। अब हम ज्ञानेश्वर आदि संतों की वाणी में इसी ध्वनि को सुनेंगे।

ज्ञानेश्वर ने सत्संग को संसार से मुक्त होने का सर्वोत्तम साधन बताया है—

"सर्वोत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्म ज्ञान संपन्न संतों की सेवा सर्व भाव से करनी चाहिए। संत ज्ञान के घर हैं और सेवाधर्म इस घर की देहली। अतः अर्जुन! तुम सेवा धर्म रूपी देहली को अपने स्वाधीन कर लो अर्थात् तुम संतों की सेवा करो। गर्वरहित हो कर मनसा, वाचा कर्मणा संत चरणों की सेवा करो। वे इस सेवा से प्रसन्न होते हैं और अब यदि शिष्य उनसे जन्म मरण दुःख-रूप संसार से निवृत्त होने के सम्बन्ध में प्रश्न करता है तो वे कृपा करके उपदेश देते हैं। इस उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे शिष्य के अन्तःकरण में मनोव्यापार उत्पन्न ही नहीं होते‡।

कबीर कहते हैं: "सत्संगति से विवेक रूपी बुद्धि प्राप्त होती है। हम संसारी जीवों को साधु आत्म-दर्शन कराते है अतः हमें साधुओं में इस प्रकार हिल-मिल जाना चाहिए, जिस प्रकार दूध में घी रहता है†।

साधु के दर्शन से भगवान् का स्मरण हो आता है अतएव केवल वे ही क्षण अपने जीवन काल के अन्तर्गत गिनने के योग्य हैं, दूसरे तो व्यर्थ ही हैं:

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. ४।१६४-१६७।

† संत संगति मिलि विवेक बुधि होई।
साधु हमारी आतमा, हम साधुन के जीव।
साधुन मद्धे यों रहैं, ज्यों पय मद्धे घीव॥

कबीर दरसन साधना साईं आवै याद।
लेखों में सोई घड़ी बाकी के दिन बाद‡ ॥

तुलसीदास कहते हैं : "श्री रघुनाथ जी की भक्ति सुलभ और सुखद है, किन्तु सत्संग के बिना भक्ति प्राप्त नहीं होती। संत तभी मिलते हैं जब भगवान् की कृपा होती है। अथवा बिना सत्संग के विवेक प्राप्त नहीं होता और बिना भगवान् की कृपा के सत्संग प्राप्त नहीं हो सकता। ब्राह्मण, देवता, गुरु, हरि और संतों के बिना कोई संसार सागर को पार नहीं कर सकता†।

संत लक्षण—

हे विश्वचि माझें घर। ऐसी मती जयाची स्थिर।
किंबहुना चराचर। आपण जाहला‡ ॥

अर्थात्,

सच्चे भक्त सब प्राणियों को भगवान् समझते हैं। सारा विश्व ही उनका घर है अथवा सच्चा भक्त यह अनुभव करता है कि वह स्वयं ही चराचरात्मक है।

भक्त जंगम कल्पतरु की वाटिका हैं, जीवित चिन्तामणि के गाँव अथवा अमृत के चलते-बोलते समुद्र हैं। वे सूर्य के समान तेजस्वी होते

---

‡ तुलना कीजिए :

संसारेऽस्मिन क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।

[भागवत : स्कं० ११, अ. २, श्लो० ३०]

† **रघुपति भगति सुलभ सुखकारी।**
बिनु सतसंग भगति नहिं होई।
तें तब मिलें द्रवै जब सोई॥

अथवा

बिनु सतसंग विवेक न होई। बिनु हरि कृपा सुलभ नहीं सोई॥

$ ज्ञानेश्वरी अ. १२।२१३।

हैं। सूर्य में ताप होता है और वह अस्त भी होता है, परन्तु भक्त इन दोषों से मुक्त रहते हैं। भक्त चन्द्रमा के समान सदा शीतल और तेजस्वी होते हैं। चन्द्रमा में यह दोष है कि वह पूर्णिमा को ही पूर्ण होता है और उसमें कलंक होता है; परन्तु भक्त सदा पूर्ण और निष्कलंक होते है ‡।

भक्तो का काम भी गंगा के प्रवाह और सूर्योदय के समान है। वे बद्ध जीवो को मुक्त करते है; डूबते हुओं को उबारते हैं; दुःखी जीवों के कष्ट दूर करते हैं। स्वजनो के सुख की वृद्धि करना ही उनका स्वार्थ समझना चाहिए। लोक कल्याण के सिवाय उनका कोई दूसरा स्वार्थ ही नहीं अतः दूसरों के अहित की कल्पना उनके हृदय में क्षण-भर के लिए भी नही उठती †।

अथवा

सच्चे भक्त के चित्त में कभी वैषम्य नहीं होता। उनका आचरण पृथ्वी, पानी, दीपक, वृक्ष और गन्ने के समान होता है। उसी प्रकार भक्त अरि-मित्र दोनों के लिए समान उपकारी होता है तथा मानापमान में समान वृत्ति रखता है। जिस प्रकार चन्द्रमा राजा से लेकर ंक तक सबको समान शीतल चाँदनी देता है, उसी प्रकार भक्त भी भेद-भाव रहित होता है। वह सब पर प्रेम की वर्षा करता है और सारे संसार को सुखी करने की धुन में रहता है $।

---

‡ वही अ. १८।१७९७-१७९८।
नरहर रघुनाथ फाटक : ज्ञानेश्वर : वाङ्मय आणि कार्य पृ. १५४।

† ज्ञानेश्वरी अ. १३।१९९-२०३।
नरहर रघुनाथ फाटक : श्री ज्ञानेश्वर : वाङ्मय आणि कार्य पृ. १६१।

$ ज्ञानेश्वरी अ. १२।१९८-२००; २०४।

नामदेव ने इन्हीं भावों को एक अभंग में व्यक्त किया है :

जिस प्रकार वृक्ष मान-अपमान को नहीं जानता उसी प्रकार संतों का व्यवहार होता है। जो प्राणी वृक्ष की पूजा करता है, उसका उसे सुख नहीं अथवा जो उसे तोड़ता है उससे वृक्ष यह नहीं कहता कि मुझे मत तोड़ो। उसी प्रकार संत लोग निन्दा और स्तुति को समान मानते हैं। वे पूर्ण धैर्यवान होते है ‡।

कबीर कहते हैं कि द्रव्य की लालसा में इधर-उधर भटकने वाला मनुष्य कभी साधु नहीं हो सकता। वह तो भाव का भूखा होता है।

साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाँहि।
धन का भूखा जो फिरे सो तो साधू नाँहि।

जिस प्रकार सिंह झुंड में नहीं रहा करते, हंस पंक्तियों में नहीं उड़ा करते अथवा रत्न बोरियों में नहीं मिला करते उसी प्रकार साधु भी जमातों में नही दीख पड़ते।

सिहों के नहिं लेहडे, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमाति।।

साधु लोग बादलों की भाँति उपकारी होते हैं। वे दया की वृष्टि करके दूसरों के तापों को अपने संसर्ग द्वारा शान्त करते है। जैसे वृक्ष अपने फलों को आप नहीं खाया करते और न नदी अपने उपभोग के लिए पानी ही संचित रखती हैं। वैसे ही साधु दूसरों के लिए ही शरीर धारण करते हैं :

साधु बड़े परमारथी, घन जों बरसे आय।
तपन बुझाते और की, अपने पारस लाय।
वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर।।

---

‡ नामदेव : अभंग १४७७।

एकनाथ महाराज कहते हैं :

परोपकार संतों का सहज स्वभाव होता है। वे वृक्ष के समान उपकारी हैं जो अपने पत्तों, फूल, फल, छाल जड़ और छाया, से सबका उपकार करते हैं‡।

तुलसीदास उपरोक्त भाव का वर्णन इस प्रकार हैं :

संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी—इन सबका जन्म दूसरों के कल्याण के लिए है। इतना ही नहीं संतों का आचरण आम के वृक्ष के समान है। आम के वृक्ष दूसरों के लिए फूलते और फलते हैं। इन्हें जो पत्थर मारता है उन्हें वे फल देते हैं†।

अथवा

जो कुछ मिल जाए उसी में संतुष्ट रहना, वासनाओं का निग्रह करना, मन-वचन-कर्म से परोपकार करना, मानापमान में सम रहना। दूसरों के गुणों को बखान करना, परन्तु दोष नहीं कहना। शारीरिक चिन्ताएँ छोड़ कर सुख और दुःख को एक समान मान कर रहना$।

भक्त महिमा

ज्ञानदेव एक अभंग में कहते हैं :

संभव है कि पूरब का सूर्य पश्चिम में उगे, सिन्धु जा कर सरिता में मिले, सरिता ब्रह्मगिरि पर चढ़े, जला हुआ कपूर फिर प्रकट हो,

---

‡ **पत्र पुष्प छाया फल। त्वचा काष्ठ समूळ।**
वृक्ष सर्वांगे सफळ। सर्वांसी केवळ उपकारी॥

† **संत विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह की करनी।**
तुलसी संत सुअंब तरु, फूल फलहिं पर हेतु।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत॥

$ तुलसीदास विनय पत्रिका पद १७२।

चन्दन बबूलत्व को प्राप्त हो; परन्तु ज्ञानवान भक्त के लिए जन्म-कर्म का कोई बन्धन नहीं है ‡।

एकनाथ महाराज ने भक्त विभीषण के संबंध में कहा है : संभव है कि सूर्य को अंधकार निगल ले, परन्तु विभीषण का सुख से अक्षय राज्य भोगना अन्यथा नहीं हो सकता। चाहे चन्द्रमा आग की वर्षा करे अथवा प्रलय टल जाए तथापि विभीषण संसार में अटल राज्य भोगेगा। कुलाचल अपना स्थान छोड दे, पृथ्वी पाताल को चली जाए परन्तु श्रीराम के भक्त के अक्षय रहने में कोई संदेह नहीं। श्रीराम ने जिस विभीषण को शरण दी वह अमर हो गया †।

एकनाथ महाराज का यह वर्णन ज्ञानदेव के अभंग ९४१ का प्रतिबिम्ब ही है।

नाथ महाराज अन्यत्र कहते हैं :

जिन्होंने मेरे भक्त का पूजन किया उन्होंने मानों मेरी अनन्त बार पूजा की।

मद भक्त पूजिलें जेणें। तेणें अनंत गुणें मज पूजिले $।

(अ. क. ७१।३५)

अथवा

जो राम का अनिमेष चिन्तन करते हैं उनका चिन्तन राम करते हैं।

जे अनिमेष चिंतली रामासी। राम चिंतितु तयांसी ×।

(अ. का. ७१।५१)

किंवा

---

‡ ज्ञानदेव अभंग ९४१। † भा. रा. यु. का. ६७।२०।
$ वही अ. का. ७१।३५। × वही अ. का. ७१।५१।

मेरा भक्त मुझे शिव जी से भी अधिक प्रिय है।
भक्त को छोड कर दूसरा कोई मुझे त्रिभुवन में प्रिय नहीं।

या परी माझ्या भक्ताहूनी। मज प्रिय नव्हे शूल पाणी।
मज पढियंत्ता त्रिभुवनीं। भक्तां वांचूनि आन नाहीं‡॥

तुलसीदास ने भी राम के भक्त को राम से बड़ा बताया है।

सबइ कहावत राम के सबहिं राम की आस।
राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास†॥

सुन कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइन सकत मन मोरा॥
सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेऊँ करि विचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता$॥

सत्संग का फल :

मेरा भक्त ठीक उसी प्रकार मद्रूप हो जाता है जिस प्रकार मलयागिरि की वायु से नीम जैसे वृक्ष भी सुवासित हो कर देवताओं के मस्तक पर चढ़ते है।

पाहेंपा चंदनाचेनि अंगानिळे शिवतिले निंब होते जे जवळे।
तीं ही निर्जीवी देवांची निडळे। वैसणी केली×।

ज्ञानदेव अपने एक अभंग में कहते हैं :

पूर्व जन्मों के पुण्यों का फल है कि आज मुझे संतों के दर्शन का लाभ हुआ। मुझे अत्यानन्द प्राप्त हुआ। इस परानन्द का सुख-वर्णन करने के लिए वे कुछ दृष्टांत देते हैं :

---

‡ एकनाथ भागवत १४।१५४। † तुलसी दोहावली १४१। $ तुलसी सुं. कां.। देखिए, एकनाथ व तुलसीदास भक्त महिमा पृ. १२३-१२६। × ज्ञानेश्वरी ९।४८४।

जैसे निर्धन को धन लाभ हुआ हो, अथवा मृत को प्राण लाभ हुआ हो किंवा हरिणी के बिछुड़े बच्चे को अपनी माता की भेंट हुई हो। यह परमानन्द अमृत से भी मधुर है। सतों के दर्शन से भव दुःख नाश हो गये ‡।

कबीर भी कहते हैं—जिस प्रकार पारस के स्पर्श करने से लोहा सोना हो जाता है, चन्दन के साथ के वृक्ष चन्दन की सुगंध देने लगते हैं, परन्तु जो स्वभाव से ही कटु है उन पर सत्संगति का कोई प्रभाव नहीं होता जैसे कौवे को कपूर चुगाने से, सर्प को दूध पिलाने से अथवा नीम को अमृत से सींचने पर भी वे अपनी स्वाभाविक कटुता को नहीं छोड़ते।

चदन के संग तरुवर बिगरव्यो सो तरुवर चंदन ह्वै निबरयो।
कौआ कहा कपूर चुगाये, कह बिसियार को दूध पिलाये।
अमिरत लै लै नीम सिचाई। कहत कबीर सहज न जाई।

एकनाथ ने युद्धकांड में संतों के लिए बड़ी सुन्दर उपमाएँ दी हैं। वे कहते है—पारस को तोड़ने के लिए घन ज़ोर-ज़ोर से प्रहार करता है; परन्तु पारस उसे तत्क्षण स्वर्ण बना देता है। चंदन के संसर्ग से खैर, धामोड, वेदकली, ठाकली, पांगर इत्यादि वृक्ष चंदत से सुवासित हो जाते हैं। इतना ही नहीं इसमें एक अलौकिक गुण और है—जो चन्दन के वृक्ष को काटता है वह उसे अधिक सुगंधित कर देता है। जलाने पर उससे भी अधिक सुगंध देता है। इसी प्रकार सज्जनों के लक्षण होते हैं। कपट और द्वेष करने वालों के साथ भी सज्जन सम भाव बरतते हैं।

मनुष्य जिस संगति में रहता है उसकी छाप उस पर पड़ती है। उसका निज का गुण छिप जाता है और वह संगति का गुण प्राप्त कर लेता है। यदि कस्तूरी के साथ रख कर प्याज का पौधा लगाया जाए

‡ ज्ञानेश्वर : अभंग २८९।

तो कस्तूरी की सुगंध छिप जाती है और प्याज की दुर्गन्ध आने लगती है।

ऐक संगाचें महिमान। ज्याची संगती घडे पूर्ण।
तरी त्याचें ही घेऊन उठे चिन्ह। अपुला निज गुण आच्छादी।
आनें करून कस्तूरीचें। रोपलाविलें पलांडूचें।
सुवास आच्छादून साचें। दुर्गंधीचें बळ वाढे।

तुलसीदास का अनुभव भी ऐसा ही है:

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु वेद विदित सब काहू।
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा।
साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमरहिं राम देहिं गनि गारी।
संत असंतन की असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरणी।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई।

सूरदास ने अपने एक पद "जा दिन संत पाहुने आवत" में संतों के दर्शन मात्र से अपने को पवित्र समझा है। वे कहते हैं:

संतों के दर्शन से करोड़ों तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त होता है। उनके चरणों में मन रम जाता है। मैं मनसा, वाचा, कर्मणा उन्हीं का स्मरण करता हूँ। मैं उन्हें अनन्य भाव से भजता हूँ। मैं मायावाद जैसे जटिल तत्त्व ज्ञान में न फँस कर संतों का विमल यश गाता हूँ जिसके कारण कर्मों के कठिन बन्धन भी कट जाएँगे। सूरदास के कथनानुसार हमें साधु-संगति में जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे इस जन्म-मरण रूपी चक्कर से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो सके। इसके साथ ही सूरदास जी यह भी कहते हैं कि जो स्वभाव से ही मलिन हैं उन पर सत्संग का कोई प्रभाव नहीं होता।

गधे के शरीर में सुगंधित पदार्थों के लेप से क्या लाभ है? कुत्ते को गंगा में स्नान कराने का क्या फल है? कौवे को कपूर चुगाने से

क्या प्रयोजन ? बन्दर को आभूषण पहनाने से क्या लाभ है ? सर्प को दूध पिलाने से क्या लाभ जब कि वह अपने विष को नहीं त्यागता ।

खर को कहा अरगजा लेपन । स्वान नहाये गंग ।
कागा कहा कपूर चुगाये । मर्कट भूषन अंग ।
कहा भयो पयपान कराये । विख नहीं तजत भुजंग ।

नामदेव ने भी ऐसे विचार प्रकट किये हैं । यथा—गधे को गंगा स्नान कराने से क्या लाभ ? वह फिर ज़मीन में लोटता है और अपने शरीर को अपवित्र कर लेता है । कुत्ते को पालकी में बैठाने से क्या लाभ ? वहाँ भी वह ऊपर मुँह उठा कर भूंकता है । नकटे मनुष्य को जिस प्रकार दर्पण अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार पापी मनुष्यों को हरि कीर्तन पसन्द नहीं ।

गाढव गंगेसीं न्हाणिलें । पुढती लोळूं ते लागलें ।
श्वान वैसविलें पालखीं । वरती मान करूनी भुंकी ।
दर्पण नावडे नकटचा नरा...
तैसें पापियाचें मन । ज्या नावडे हरि कीर्तन ।।

उपरोक्त विवेचन से यह तो निर्विवाद सिद्ध ही है कि ज्ञानेश्वर आदि सभी संतों ने सत्संग को साक्षात्कार-मार्ग का प्रधान साधन बताया है । सत्संग महिमा, लक्षणादि वर्णन करने में उन्होंने परम्परा गत दृष्टांतों और उपमानों का उपयोग किया है जो हमारे धर्म ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । इसीलिए इन उपमानों और दृष्टांतों में तात्विक एकरूपता ही लक्षित होती है । भाषा के आवरण ने इन रत्नों की तेजस्विता में कोई बट्टा नहीं लगाया वरन् उन्हें जन-साधारण तक मंजुल-मनोहारी वेष में पहुँचाने का सफल प्रयास ही किया है ।

(३) गुरु भक्ति

गुरु माता गुरु पिता । गुरु स्वामी कुल देवता ।
गुरु वांचोनि सर्वथा । आणिक देवता स्मरेना ।।

सुहृद आप्त सखा बंधू । शिष्याचे सद्गुरु प्रसिद्धू ।
निवारूनि नरक संबंधू । परमानंदू सुखदातां‡ ॥

ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और अभंगों में स्थान-स्थान पर ज्ञानदेव ने सद्गुरु-महिमा का वर्णन किया है । पारमार्थिक अंधेरी रात में गुरु कृपा रूपी प्रकाश के बल पर ही भक्त प्रवेश कर सकता है । अतः ज्ञानेश्वर ने गुरु की महिमा सर्वत्र मुक्त कंठ से गायी है ।

ज्ञानदेव कहते हैं—जिस प्रकार आँखों में दिव्य दिव्यांजन लगाने के बाद साधक जिधर देखता है उधर ही भूमिगत द्रव्य उसे दिखाई देने लगता है, किंवा चिन्तामणि हाथ में आने के बाद साधक के मन की सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार श्री गुरु निवृत्ति की कृपा से मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं । जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने से शाखाएँ और पत्ते ताजे बने रहते हैं, किंवा एक समुद्र में स्नान करने से सब तीर्थों का फल मिलता है, अथवा अमृत के सेवन करने से सब रसों का सेवन होता है उसी प्रकार इच्छित कामनाएँ पूर्ण करने वाले श्री गुरु को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ† ।

अनुभवामृत में श्री निवृत्तिनाथ को निमित्तमात्र कर ज्ञानेश्वर कहते हैं :

सद्गुरु साक्षात्कार के लिए जंगम साधन हैं । वन को फुलाने वाले वसन्त ॠतु हैं, अमूर्त होते हुए भी मूर्तमन्त कारुण्य ही हैं । अविद्या के वन में भ्रमण करने वाले जीवों का करुण क्रंदन सुन कर वे दौड़े आते है और माया रूपी हाथी को मार कर उसके गंडस्थल के मुक्ताओं को उन जीवों को खिलाते हैं । सद्गुरु, आत्मा को आत्म-सुख दिलाने वाले दर्पण हैं, और गुरु कृपा मानो आत्म-बोध रूपी चन्द्र की बिखरी हुई कला को बटोरने वाली पूर्णिमा है । उनके मिलते ही मोक्ष-प्राप्ति के सब साधनों की दौड़ बन्द हो जाती है और गुरु कृपा रूपी सागर में

‡ एकनाथ भागवत १९।६५३ । ‡ ज्ञानेश्वरी १।२३ से २७ तक।

मिलने वाली प्रवृत्ति-गंगा अपने आप स्थिर हो जाती है (अर्थात् सद्‌गुरु की भेंट से वैराग्य निर्माण हो कर ममत्व का निरास होता है और साधक निवृत्ति के शिखर पर जा कर बैठता है।) सद्‌गुरु मानो चित्सूर्य हैं जिसके उदय होने से अविद्या रूपी रात्रि समाप्त हो कर सुबोध रूपी सुदिन निकल आता है। गुरु कृपा रूपी जल में स्नान करने से जीव इतना पवित्र हो जाता है कि उस पर शिवत्व भी निछावर होना चाहता है‡।

सद्‌गुरु अपने सामर्थ्य के प्रभाव से श्री शंकर को भी जीत लेते हैं और इस सद्‌गुरु-रूपी दर्पण में आत्मा को आत्म-सुख देखने को मिलता है†।

अथवा

जीवत्व से ऊब कर जब प्रत्यक्ष श्री शंकर को आत्म स्थिति प्राप्त करने की इच्छा होती, उस समय आत्म स्थिति में जाने का मुहूर्त पूछने के लिए श्री शंकर निवृत्तिनाथ रूपी ज्योतिषी के पास जाते हैं—तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष शंकर की अपेक्षा सद्‌गुरु निवृत्तिनाथ अधिक मुक्त स्थिति में है$।

परमार्थ के लिए सद्‌गुरु ही एक आधार है—यह तत्त्वज्ञान ज्ञानदेव की अभंग वाणी में स्पष्ट दिखाई देता है। ज्ञानदेव कहते हैं :

सद्‌गुरु, संतकुल का राजा और साधकों का प्राणाधार है। उसे छोड़ कर दूसरा देव ही नहीं है। गुरु, सुख का सागर, प्रेम का आगर और धैर्य का पर्वत है। गुरु, भक्ति का मानो भूषण ही है। गुरु, भक्त

‡ अमृतानुभव : प्र० २।१-११। † वही प्र० २।६-८। $ वही प्र० २।२४।

के घर की दुधारू कामधेनु हैं जिनकी कृपा से आत्म-बोध का सौभाग्य प्राप्त होता है ‡।

कबीर भी गुरु को गोविन्द से बड़ा मानते हैं। कबीर ने कहा है कि गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर नही, केवल आकार मात्र से ही भिन्नता लक्षित होती है। वे लोग अन्धे हैं जो गुरु के विषय में कुछ और कहा करते हैं। यदि परमेश्वर रूठ जाए तो गुरु बचा सकता है, किन्तु यदि गुरु ही रूठ जाए तो फिर अपनी रक्षा की कोई आशा नहीं रह जाती। गुरु और गोविन्द दोनों ही हमारे सामने खड़े हैं। मैं किसके चरणों को प्रणाम करूँ? मैं तो अपने गुरु की ही बलिहारी जाऊँगा, जिन ने मुझे गोविन्द के दर्शन करा दिये।

गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेंहि जीवत मरै, तो पावै करतार॥
कबीर वे नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठें गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥
गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पायँ।
बलिहारी गुरु अपने, जिन गोविन्द दिया बताये † ॥

---

‡ ज्ञानेश्वर : अभंग ४७४।

† देखिए : [पृ. ११७–१२३ गुरु महिमा एकनाथ व तुलसीदास]

मंत्र योग—नाम महिमा

नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये रवौ।
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

यद्यपि ज्ञानदेव ने कर्म योग, ध्यान योग, पंथ राज और ज्ञान योग का वर्णन किया है, परन्तु साधारण मनुष्यों के लिए भक्ति योग का ही मार्ग बतलाया है। सद्गुरु से प्राप्त हुआ सबीज नाम-मंत्र का अखंड स्मरण करना ही ज्ञानदेव प्रणीत साधन मार्ग का हृदय है। इसे हम मंत्र योग भी कहते हैं। ज्ञानदेव ने शिव अथवा विष्णु—इनमें से किसी एक के नाम-स्मरण को वाचिक तप कह कर महत्त्व दिया है :

नातरि एकाधें नाव। तेंचि शैव कां वैष्णव।
वाचे वसे तें वाग्भव। तप जाणावें‡ ।।

नाम संकीर्तन की महिमा ज्ञानदेव ने गायी है भगवान् कहते हैं :

नाम महिमा :

मेरा स्वभाव ऐसा है कि मैं बैकुंठ में नहीं रहता। मैं भानु मंडल में भी नहीं दिखाई देता यहाँ तक कि योगियों के मन को पार करके निकल जाता हूँ। हे अर्जुन ! जिस स्थान पर मेरे अनन्य भक्त प्रेम से मेरे नाम-संकीर्तन का घोष करते हैं, वहाँ मैं सहज ही मिल जाता हूँ। ज़रा देखो वे लोग मेरे गुणों में कैसे लीन हो जाते हैं। उन्हें स्थल और काल का भी स्मरण नहीं रहता। वे मेरे नाम कीर्तन में आत्म-सुख प्राप्त करते हैं। उनकी कृष्ण-विष्णु, हरि, गोविन्द की अखंड माला

‡ ज्ञानेश्वरी १७।२२३।

चलती रहती है और वे मेरे सम्बन्ध में मुक्त हृदय से अध्यात्म की चर्चा करते हुए भी जी भर मेरे गुणों के गीत गाते हैं‡।

मंत्र राज :

ज्ञानदेव ने विट्ठल नाम को ही मंत्र-राज बताया है। देखिए—सकल मंगल निधि और पतित पावन विट्ठल नाम ही मंत्र-राज है, जिसका उत्तम से ले कर अधम पर्यन्त सबको गाने और सुनने का अधिकार है और जो सबको समान रूप से मोक्ष दायक है। परम पवित्र नाम, कल्पतरु से भी उदार और अमृत से भी मधुर है। यदि भूल कर भी इस नाम को कोई लेता है तो पापों के पर्वत जल जाते है और कलिकाल का भय नष्ट हो जाता है। निरन्तर नाम-स्मरण सुख का भण्डार है। इससे कोटि जन्म के दोष निःशेष हो जाते हैं और कोटि कुलों का उद्धार होता है। विट्ठल नाम खुला मंत्र है जिसके लेने में कोई मोल नहीं लगता। इसलिए शिव जी इसे जपते हैं।

सकळ मंगळ निधी विट्ठलाचें नाम घ्या।
विठोबा नाम तुझें सार। म्हणोनि शूळ पाणि जपता हे वारंवार†।

यद्यपि ज्ञानदेव ने 'विट्ठल' नाम को ही मंत्र-राज माना है तथापि वे 'श्री राम' नाम को भी महत्त्व देते हैं। ज्ञानेश्वरी में श्रीराम के प्रताप वर्णन करने का अवसर मिलते ही ज्ञानेश्वर ने उनका यश गाया है। **'रामः शस्त्रभृतामहम्'**—इस पर टीका करते हुए वे कहते हैं :

‡ **तो मी वैकुंठीं नसें। वेळ एक भानुबिंबींही न दिसें।**
वरी योगियांचीहि मानसें। उमरडोनि जाय॥
मी हारपला पांडवा। परी तयापासीं गिवसावा।
जेथ नामघोष बरवा। करिती माझा॥

ज्ञानेश्वरी ९।२०७-२०८

† अभंग १२५, १४०, १७०, १७३।

"सब शस्त्रधारियों में 'श्रीराम' मैं हूँ। जिन राम ने त्रेतायुग में आपद् ग्रस्त धर्म की रक्षा के लिए अपने ही समान प्रतापी धनुष का निर्माण किया और विजयलक्ष्मी को अपने हाथ से जाने न दिया, पश्चात् लंकाधीश रावण की मुण्डमाला की भूत बलि समर्पित की, तथा देवताओ का मान रख कर धर्म का जीर्णोद्धार किया एवं जो सूर्य वंश में दूसरे सूर्य की भाँति ही उदय हुए थे, वह शस्त्रधारी 'सीतापति रामचन्द्र' मैं ही हूँ ‡।"

निर्गुण पंथ में भी नामस्मरण को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। कबीर ने भी यो कहा है—नाम का एक अणुमात्र भी हृदय में आ जाने से करोडों पापों का जाल एक क्षण में ही नष्ट हो जाता है; परन्तु बिना राम के युगो तक पुण्य करते जाने पर भी कोई लाभ नहीं।

कोटि करम पेलैं पलक में, जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग जो पुनि करे नहीं राम बिन ठाउँ॥

उन्होंने कहा कि यदि मनुष्य ने सत्संगति का लाभ नहीं उठाया, भगवान् की भक्ति नहीं की, तो उसका जीवन व्यर्थ ही चला गया।

भगति बिनु बिरथे जन्म गइओ।
साध संगति भगवान भजन बिन कहीं न सचु रहिओ।

कबीर अन्यत्र कहते हैं कि—'जिह नर राम भगति नहिं साधी, जनमत कस न मुओ अपराधी।'

भजन की महिमा का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि भक्त के प्रताप से जल में पाषाण तैरने लगे और नीच जाति के अजामिल और गणिका भी वैकुंठ को सिधार गये।

भजन को प्रताप ऐसो तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात विवान॥

---

‡ ज्ञानेश्वरी अ. १०।२५१-२५५।

कबीर का मंत्र राज 'राम' नाम है और इसी का उन्होंने यश गाया है।

राम का नाम संसार में सार है, राम का नाम है अमृत बानी।
राम के नाम ते कोटि पातक टरैं, राम का नाम विस्वास मानी ।।

इसीलिए वे अपने मन को उद्‌बोधन करते हुए कहते हैं—

मनरे राम सुमरि, राम सुमरि, राम सुमरि भाई।

इसी बात को उन्होंने रूपात्मक ढंग से कहा है कि तुम 'रा' का टोप और 'म' का बख़्तर पहना करो और ज्ञान की तलवार लो। जैसे प्रातः वेला में नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं वैसे ही शरीर नष्ट हो जाएगा, परन्तु राम नाम के दो अक्षर ऐसे है जिनको पकड़ने से अमरत्व प्राप्त होता है।

ररा करि टोप ममा करि बख्तर।
ग्यान रतन करि खागि रे ।।
परभाते तारे खिसहिं त्यों इहि खिसै सरीरु।
पै दुई आखर पर ना खिसहि सो गहि रहा कबीर ।।

कबीर ने विट्ठल नाम का भी कीर्तन किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे नामदेव और ज्ञानदेव के अभंगों द्वारा प्रभावित हुए हों।

मन के मोहन बीठुला यह मन लागौ तोहिरे।
चरण कवल मन मानिया और न भावै मोहि रे‡ ।।

गोकुल नाइक बीठुला मेरो मन लागौ तोहिरे।
बहु तक दिन बिछुरे भये, तेरी औसरि आवै मोहिरे† ।।

---

‡ क. ग्रं. पद ४। † क. ग्रं. पद ५।

देखिए, पृ. ११०-११६ नाम महिमा—एकनाथ व तुलसीदास।

कबीर के राम 'दुष्ट दलन रघुनाथ' नहीं थे जिनके सेवक 'अंजनि पुत्र महा बलदायक', साधु संत पर सदा सहायक थे।

कबीर का राम दाशरथी नहीं बल्कि जगन्नियंता है। वे कहते हैं— दशरथ सुत 'राम' की तीनों लोकों में महिमा बतायी गयी है, परन्तु राम नाम का मर्म ही दूसरा है।

दशरथ सुत तिहु लोक बखाना।
राम नाम का मर्म है आना॥

इसीलिए वे 'निर्गुन राम जपहु रे भाई' का आदेश देते हैं।

भावार्थ रामायण में 'राम नाम' स्मरण को नाथ महाराज ने प्रथम स्थान दिया है। उद्धव गीता में जो भावार्थ रामायण से अनेक वर्ष पूर्व लिखी गयी है 'राम नाम' का माहात्म्य सात्विक दृष्टि से लिखा गया है। इससे 'राम नाम' विषयक नाथ की श्रद्धा का द्योतन होता है।

जो 'श्रीराम नाम' का नित्य जप करता है वह मनुष्यों में पुरुषोत्तम है और वह कर्माकर्म से अतीत होता है।

या लागीं श्रीराम राम। नित्य जपे जो हें नाम।
तो पुरुषां माजीं पुरुषोत्तम। कर्मा कर्म अतीत तो‡॥

आसन और ध्यान के परिश्रम में न पड कर जो बिना श्रम राम नाम कहता है वह करोड़ों जन्मों की व्यथा को नष्ट कर देता है। जो वाणी से नित्य राम नाम जपता है वह सर्वश्रेष्ठ है। भगवान कहते हैं कि जो नित्य राम नाम जपता है उसे मेरे समान समझो। केवल यह एक ही साधन सब नियमों के पालन करने के समान है। ऐसा मनुष्य, मानवों में पुरुषोत्तम है। चारों वर्णों में से जो कोई मनुष्य निरन्तर राम नाम जपता है वही मेरा प्यारा है†।

---

‡ एकनाथ भागवत अध्याय ४।२५१। † वही ११।५९०-५९२।

राम नाम ने सारे जग का उद्धार किया इसलिए इसकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई है। धन्य है वे मनुष्य जो राम चरित सुनते अथवा गाते हैं।

ऐसी राम नामा ची ख्याति। जगदुद्धारे केली कीर्ति।
धन्य धन्य जे परिसती। धन्य जो गाती रामचरित ‡॥

यो त महाराष्ट्र के सभी संतों ने नाम महिमा गायी है और राम के माहात्म्य पर सदा बल दिया है तथा इन सब संतों में नाम महिमा की प्रखरता नामदेव में पायी जाती है। नाम महिमा पर नामदेव ने बहुत से अभंग लिखे हैं जिनमें से केवल एक का भावार्थ यहाँ दिया जाता है:

"अग्नि में जलाने की शक्ति होती है परन्तु वह लाक्षागृह में पाण्डवों को न जला सकी कारण कि वे सदा भगवन्नाम का स्मरण करते थे; गोपाल भी अग्नि में न जल सके क्योंकि उन्होंने अपने हृदय में भगवन्नाम धारण किया था। इसी प्रकार हनुमान जी, प्रह्लाद, सीता अग्नि में भस्म न हो सके कारण कि उन्होंने अपने हृदय से भगवान् को कभी विस्मरण नहीं किया। लंका की प्रचण्ड अग्नि में विभीषण का घर इसलिए सुरक्षित रहा कि उसके हृदय में सीता-पति राम सदावास करते थे। नामदेव का कहना है कि भवबाधाओं से मुक्ति पाने के लिए गोविन्द का स्मरण ही एकमात्र साधन है †।"

तुकाराम कहते हैं कि नाम की महिमा का वर्णन स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते। क्या कमल का पौधा अपने फूलों के सौरभ का आनन्द लूट सकता है? उसके मधु और सौरभ का आनन्द तो मधु-मक्खी ही लूटती है। गाय घास खाती है परन्तु उसका बछड़ा ही उसके

---

‡ एकनाथ भागवत अध्याय ४।२५३। † श्री नामदेव गाथा अभंग ६५८।

दूध के माधुर्य को जानता है। जैसे शुक्ति मोतियों का उपयोग नहीं कर सकती वैसे ही नाम की महिमा का अनुभव भगवान् नहीं कर सकते। भक्त ही उसका अनुभव कर सकता है ‡।

रामदास स्वामी ने भी नाम की महिमा गायी है। भगवान् का उल्टा नाम जप कर वाल्मीकि ब्रह्म के समान हो गये और उन्होंने श्रीरामचन्द्र का भावी चरित्र ही लिख डाला। नाम के प्रभाव से प्रह्लाद सब संकटों से मुक्त हुए। अंत्यंज अजामिल नाम के प्रभाव से पावन हो गया। यहाँ तक कि पाषाण भी नाम के प्रभाव से तर गये। अगणित भक्त इसके सहारे भवसागर को पार कर चुके हैं...नाम में इतनी शक्ति है कि वह पापों के पहाड़ों को जला सकती है। इसी नाम के प्रभाव से शिव जी विष को पचा सके। भगवान् के नाम के उच्चारण में नीच-ऊँच जात-पाँत का विचार नहीं। नामोच्चार के साथ-साथ भगवान् के रूप का स्मरण भी हमें करते रहना चाहिए †।

तुलसीदास ने भी रामनाम की महिमा का विशद वर्णन किया है और तुकाराम के समान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई $ ।।

हिन्दू धर्म में ही नहीं अपितु ईसाई, मिश्री और हीब्रू धर्मों में भी भगवान् के नाम की महिमा गायी गयी है।

---

‡ तुकाराम अभंग २३३।
R. D. Ranade Mysticism in Maharashtra P.321.

† R. D. Ranade Mysticism in Maharashtra P. 399-400

$ देखिए, श्री वियोगी हरि : तुलसी, विनय पत्रिका, पद २२८; पृ. ५१९-५२२।

साक्षात्कार के साधनों के समापन के साथ-साथ इस पुस्तक का समापन करते हुए मैं अपनी कामनाओं का चरम उत्कर्ष संत शिरोमणि श्री ज्ञानदेव के 'पसायदान' में पाता हूँ जिनकी मंगल कामनाएँ इस प्रकार व्यक्त हुई हैं ।

पसायदान

हे विश्व व्यापक ईश । मम ग्रंथ से सन्तुष्ट हो ।
वरदान दो हमको खलों की वक्रता का नाश हो ।
रुचि बढ़े सत्कर्म में, दुष्कर्म से अनुताप हो ।
भाव मैत्री का सदा सब जन-मनों में व्याप्त हो ।
पाप तम का नाश हो सद्धर्म का सुप्रकाश हो ।
जो वस्तु जिसको चाहिए वह वस्तु उसको प्राप्त हो ।
भक्त जंगम-कल्प-तरु के चरण में अनुराग हो ।
सम्पूर्ण वैभव प्राप्त कर त्रैलोक्य संतत हरि भजें ।
यह ग्रंथ जिनको प्रिय लगे दुइ लोक में विजयी रहें ।